Chapter-3

अध्याय : ३ :

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी के ललित निबंधों का अनुशीलन

प्रस्तावना

समकालीन हिन्दी साहित्य को अपने पांडित्यपूर्ण चिंतन और वैदुष्यपूर्ण लेखन से सर्वाधिक प्रभावित करनेवाले साहित्यकारों में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का स्थान अप्रतिम है । वे साहित्य को किसी एक विशिष्ट काल सीमा में बांधकर देखने के पक्ष में नहीं थे । संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, बंगला, हिन्दी और अंग्रेजी के ज्ञान के साथ ही साथ मानविकी के अनेक शास्त्रों में उनकी मजबूत पकड़ थी । इतना ही नहीं वे प्राचीन शास्त्रज्ञ पंडित और आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के पूरे पारखी थे । आचार्य द्विवेदी जी ने अपने साहित्य को विविध विधाओं में लिखा । सर्जक साहित्यकार के रूप में उनके चार उपन्यास, शताधिक निबंध और भाषण उनके मौलिक लेखन के प्रमाण हैं । इतिहास लेखक के रूप में , समीक्षक के रूप में, सम्पादन तथा अनुवाद के क्षेत्र में द्विवेदी जी ने उल्लेखनीय कार्य किया है । द्विवेदी जी वस्तुत: भारतीय साहित्य सम्पदा के धनी, धर्म, कला और संस्कृति के मर्मज्ञ तथा आधुनिक युग के गंभीर विचारक थे । इतिहास लेखन का क्षेत्र देखें तो इतिहास चाहे वह समाज का हो या साहित्य का उसके लेखन को कई प्रक्रियाओं में से गुजरना पड़ता है । इतिहास लेखन का कार्य एक वैज्ञानिक शोध जैसा कार्य है, साहित्येतिहास के क्षेत्र में वे नया दृष्टिकोण लेकर अवतरित हुए । उन्होंने हिन्दी साहित्य को इस्लाम प्रवेश की प्रतिक्रिया या हारी हुई जाति की कुंठा के रूप में न देखकर उसे पूर्ववर्ती परंपराओं के सहज विकसित रूप में देखा । इतिहासकार जहां एक ओर परंपराओं के मूल उत्सों और अनेक प्रेरणास्रोतों को खोजता हुआ उनके विकास को स्पष्ट करता है वहां वह उन्हें कालविशेष की पृष्ठभूमि में रखकर उनका मूल्यांकन भी करता है । प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन के समय समीक्षक को विशेष सावधानी बरतनी पड़ती है । आचार्य द्विवेदी जी इस दृष्टि से प्राचीन हिंदी काव्य के लिए सर्वाधिक उपर्युक्त समीक्षक सिद्ध हुए हैं । आचार्य द्विवेदी जी ने न केवल हिंदी साहित्य के इतिहास की विभिन्न काव्यधाराओं के उद्गम स्रोतों एवं उद्भव को स्पष्ट करने में योग दिया है अपितु विभिन्न वर्गों के साहित्य की नई व्याख्या और नये मूल्यांकन के कार्य को आगे बढ़ाया है । उनके काव्य

की रचना प्रक्रिया विषयक मान्यताओं का आधार भारतीय दर्शन एवं काव्यशास्त्र हैं।

विभिन्न युगों की सामाजिक चेतना के साथ सांस्कृतिक और ऐतिहासिक चेतना का तालमेल बिठाते हुए अपनी सारस्वत यात्रा द्विवेदी जी ने सम्पन्न की है। द्विवेदी जी शोधी ही नहीं, आलोचक और सर्जक भी हैं। उनका सर्जक रूप जो निबंध और उपन्यासों में दीप्त और उद्ग्रीव है, नितांत मनोहर तथा हिन्दी जगत में पथप्रदर्शक बन गया है। कालिदास की 'लालित्य योजना' के संदर्भ में सौंदर्य की अपनी अवधारणा द्विवेदी जी ने स्पष्ट की है। व्यष्टि-व्यष्टि खंड खंड के भीतर व्याप्त अखंड मनुष्यता ही आस्वादगोचर होकर रस रूप में प्रतीत होती हैं। द्विवेदी जी इस दृष्टि से साहित्य की सर्जना और मंथना में प्रवृत्त होते हैं। वे चेतना की जययात्रा के रूप में सब कुछ देखते हैं और मनुष्यता को ही सर्वोत्तम सांस्कृतिक उपलब्धि के रूप में देखते हैं। द्विवेदी जी ने अनेक प्रकार के निबंध लिखे हैं। अब हम क्रमशः उनके निबंधों की विषय-वस्तु प्रस्तुत कर रहे हैं।

विषय वस्तु :

सांस्कृतिक निबंध :

द्विवेदी जी के निबंधों के क्षेत्र न तो विचित्र हैं न विविधायुक्त और विस्तृत। लेकिन इन सीमाओं के भीतर ही सामयिक को सनातन और सनातन को कुछ ऐसी नवीन स्फूर्ति और स्थिति मिली है जो अद्वितीय है। उनके निबंधों के आदि, मध्य और पर्यवसान सभी कलात्मक और रस सम्मत हैं। उन्होंने अपने निबंधों में अनेक विषयों की चर्चा की है जैसे कि संस्कृति, प्रकृति , ज्योतिष, धार्मिक, ऐतिहासिक,साहित्य विषयक आदि। उन्होंने सांस्कृतिक निबंधों में भारतवर्ष की प्राचीन संस्कृति को जीवंत रूप दिया है।

'अशोक के फूल'[1] इसी प्रकार का निबंध है। जिसमें निबंधकार श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अशोक की पूरी ऐतिहासिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक चर्चा की है। इतना ही

नहीं बल्कि भारतीय साहित्य में और भारतीय जीवन में इस पुष्प का प्रवेश और निर्गम दोनों ही नाटकीय व्यापार है। भारतवर्ष में कालिदास के पूर्व इस पुष्प का नाम कोई नहीं जानता था। भारतीय रस साधना के पिछले हजारों वर्षों में इस फूल का महत्व देखा जाता है। मगर उत्तर भारत में तरंगायित पत्र वाले निफूले पेड़ को अशोक कहा जाने लगा, यह बात जले पर नमक छिड़कती हैं। यहां अशोक को याद किया गया तो अपमान करके। श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भारतवर्ष को 'महामानव समुद्र' कहा है। यहां आर्य, शक, हूण, गांधर्व, यक्ष आदि अलग-अलग्ग जातियां आकर बसी थी। अलग अलग जातियों के धर्मदेवताओं का वर्णन या उल्लेख किया गया है। जैसे यक्षों और गंधर्वों के देवता कुबेर, सोम, अप्सराएं, ब्राह्मण आदि। मदनोत्सव का वर्णन किया गया है। अशोक का वृक्ष सामंत सभ्यता का प्रतीक माना गया है। आज हमारे भीतर जो मोह हैं संस्कृति और कला के नाम पर जो आसक्ति है, धर्माचार और सत्यनिष्ठा के नाम पर जो जड़िमा हैं उसका कितना भाग काल के कुण्ठ नृत्य से ध्वस्त हो जायगा कौन जानता है ? मध्य युग के मुसलमान रईसों के अनुकरण पर जो रस राशि उमड़ी थीवह वाष्प की भांति उड़ गयी। अशोक आज भी उसी मौन में है जिसमें आज से दो हजार वर्ष पहले था। 'प्रायश्चित की घड़ी'[2] शीर्षक निबंध में विश्व युद्ध के बाद की भारतवर्ष की स्थिति का वर्णन किया गया है। यहां पर भारतवर्ष की जाति व्यवस्था का चित्रण किया गया है, जिसमें हिन्दू, मुसलमान, इसाई अन्य अनेक धर्म के मानने वाले हैं। विदेशी विद्वानों ने भारतीय जनसमूह और उसकी सामाजिक परिस्थिति के अध्ययन का प्रयत्न किया है। पंडितों के अनुसार ऐसी अनेक जातियां हैं जो किसी घुमक्कड़ कबीले का परिवर्तित रूप है। आभीर(अहीर) एक ऐसी विशेष मानव श्रेणी थी जो इस देश की वर्तमान सीमाओं के बाहर के प्रदेशों से घूमती-घामती इस देश में आई। जातिभेद का सम्बंध इस देश में तीन बातों से हैं जन्म, छूआछूत, और विवाह। पेशा केवल सामाजिक मर्यादा को घटाने या बढ़ाने में सहायक होता है। पंडितों ने वैदिक साहित्य के अध्ययन के बल पर यह प्रामाणित किया है कि मूल आर्य जाति में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य यह तीन स्तर थे। इतिहास ने जनता जनार्दन के अनेक रूपों का परिचय दिया है। परन्तु भावी जनार्दन का रूप शायद अपूर्व और अद्भुत होगा। भविष्य का इतिहास लेखक भी

जनता जनार्दन के इस रूप को देखकर संजय की तरह विस्मय विमुग्ध होगा ।

'मेरी जन्मभूति'[3] निबंध में निबंधकार के छोटे से गांव के वर्णन से भारतवर्ष का बहुत बड़ा सांस्कृतिक इतिहास पढ़ा जा सकता है । गोरखबानी में गोरखनाथ मच्छन्दर-नाथ को बराबर साईं कहकर सम्बोधन करते थे । इसके बाद शाकद्वीपीय मग ब्राह्मण जाति हैं जो 'ब्राह्मण' की ऊंची मर्यादा पा सकी है । हमारी राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली'[4] निबंध में भारतवर्ष के प्राचीन उपलब्ध साहित्य में ब्राह्मण और विद्या का सम्बंध बताया है । शिक्षा वेदांग का नाम हो गया था और कला का क्षेत्र क्षत्रियों राजकुमारों, राजकुमारियों तथा वैश्यों के लिए नियत था । जाति-व्यवस्था भारतीय समाज की अपनी विशेषता है । समाज में जैसे जैसे धन की प्रतिष्ठा बढ़ती गई, वैसे-वैसे जानकारियों से द्रव्य उपार्जन की आवश्यकता और बढ़ती गई । धन की इस विस्तरण व्यवस्था के कारण विद्या वंश के बाहर जाने लगी । महाभारत में दो प्रकार के अध्यापकों का उल्लेख है । भारतीय मनीषा के अनेक प्रयोगों के भीतर एक बात को सदामुख्य स्थान दिया है । शिक्षा का मुख्य साधन अक्षम गुरु हैं । भारतवर्ष की सांस्कृतिक समस्या में भारतीय संस्कृति क्या है? इसमें मध्य युग में भारतीय जनसमूह को दो मोटे विभागों में बांटा गया था । कर्मफल का सिद्धान्त भारतवर्ष की अपनी विशेषता है । सुप्रसिद्ध ग्रीक दार्शनिक पाइथाजोरस ने पुनर्जन्म के सिद्धान्त को माना है । विलियम जान्स, कोलबुक, हावफिन्स, प्रभृति विदेशी विद्वानों ने स्वीकार किया है कि यह सिद्धान्त उक्त दार्शनिक ने भारतवर्ष से ही सीखा था । एक तरफ यह कर्मफल का सिद्धान्त तथा दूसरी तरफ पेशों के आधार ने समूचे जनसमूह के आध्यात्मिक विकास में एक अद्भुत जड़ता ला दी है ।

'भारतीय संस्कृति की देन'[5] शीर्षक निबंधानुसार कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी काव्योचित भाषा में इस प्रकार कहा है कि यह जो लुहार की दुकान की खटखटाहट और धूल-धक्कड़ है इनसे घबराने की जरूरत नहीं है । यहां वीणा के तार

तैयार हो रहे हैं । जब ये तार बन जायेंगे तो एकदिन की इनकी मधुर संगीत ध्वनि से मन और प्राण तृप्त हो जायेंगे । ये युद्धविग्रह, कूटनीतिक दांवपेंच,वे दमन और शोषण के साधन सब एक दिन समाप्त हो जायेंगे । मनुष्य दिन-दिन अपने महालक्ष्य के नजदीक पहुंच जायगा । ज्यों-ज्यों भिन्न देश और भिन्न-भिन्न जातियां एक दूसरे से नजदीक आती जायेंगी त्यों-त्यों इन अंश सत्यों की सार्थकता प्रकट हो जायेगी और हम व्यापक सत्य को पाते जायेंगे ।[६] बाह्य प्रयोजन और आन्तराभिव्यक्ति के बारे में बताया गया है-`कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय ये हमारे बाह्यकरण हैं । ये हमारे अत्यंत स्थूल प्रयोजनों के निवर्तक हैं । मन इससे सूक्ष्म है । बुद्धि और भी सूक्ष्म है । गीता के अनुसार- `जो वस्तु मन को संतुष्ट कर सके अर्थात् हमारे भावावेगों को संतोष दे वह वस्तु बब० बहुत बड़ी नहीं है, जो केवल इंद्रियों को संतुष्ट कर सके वह बहुत महत्वपूर्ण नहीं है । जो बात बुद्धि को संतोष दे वह जरूर बड़ी है, पर वह बाह्य है । बुद्धि से भी परे कुछ है वह वास्तव है ।[७] जब तक मनुष्य का बाह्य और भीतर शुद्ध निर्मल और पवित्र नहीं होता, जब तक वह गलत वस्तु को सत्य समझ सकता है । बाह्य और अन्त:करणों की शुद्धि ही भारतीय दर्शनों की विशेषता है । भारतीय विश्वास के अनुसार मनुष्य तीन प्रकार के ऋणों को लेकर पैदा होता है (१) देवऋण(२) ऋषि ऋण और (३) पितृ ऋण । इन तीनों को चुकाये बिना मोक्ष पाने का प्रयत्न पाप है । भारतवर्ष के प्रत्येक व्यक्ति से कम से कम यह आशा की गई है कि वह समाज को स्वस्थ और शिक्षित संतान दे । प्राचीन परम्परा की रक्षा करें । विचार प्रवाह संग्रह के निबंधानुसार मध्यकालीन साहित्यिकों की परस्पर सापेक्षिता में महाभारत को भारतीय जीवन दर्शन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रंथ कहना चाहिए । भारतवर्ष में जो कुछ भी काव्य, नाटक तथा अन्य जितना भी रचनात्मक साहित्य लिखा गया है उनमें से अधिकांश दो ग्रंथों - महाभारत और रामायण पर आधारित है । संस्कृत साहित्य हमें इतिहास की कठोर वास्तविकताओं के सम्मुख खड़ा कर देता है । हमारे शास्त्रों ने भारतीय विचार परम्परा का मेरुदण्ड निर्माण किया है । हिमालय की ऊंचाई से लेकर समुद्र में संकरी

गली के रूप में लीन हो जानेवाले धार्मिक विश्वासों और पुण्याग्रही अनुष्ठानों के अंतराल में भारतीय विचार परंपरा शक्ति और दृढ़ता का सहारा बनी हुई है । हिन्दी भाषा ~~उर्दू~~ साहित्य क्या है? वस्तुत: हिन्दी शब्द का प्रयोग भाषा के अर्थ में इतना नहीं होता, जितना एक विशेष प्रकार के मनोभाव के अर्थ में हो रहा है । यद्यपि आज खड़ी बोली ही गद्य और पद्य के वाहन के रूप में स्वीकृत भाषा है तथापि उन सब लोगों की भाषा को हिंदी ही कहा जाता है । जिन्होंने अपने सांस्कृतिक और साहित्यिक व्यवहार के लिए इस खड़ी बोली हिन्दी गद्य को अपना लिया है । पिछले दो हजार वर्षों में अनेक नवीन जातियों का आगमन और अनेक प्रतिभा संपन्न विचारकों का प्रादुर्भाव हुआ है । उनके आगमन से हमारी भाषाओं में, अभिव्यक्ति शैली में, उपासना विधियों में महत्वपूर्ण बाह्य परिवर्तन हुए हैं । धर्म पूजा को शुरू-शुरू में बौद्ध धर्म का अवशेष समझा गया था । सन् १९१७ ई० में बौद्ध की महत्वपूर्ण पुस्तक 'Discovery of Living Buddhism' प्रकाशित हुई । बिहार में बौद्ध धर्म चौदहवीं पंद्रहवीं शताब्दी तक जीवित था और उसका विघटन कबीर पंथ में हो गया । निरंजन मत का तीसरा रूप कबीरपंथी पुस्तकों में मिलता है । आरंभ में आधुनिक हिन्दी गद्य पर बंगला भाषा का बहुत महत्वपूर्ण प्रभाव रहा है । बंगला के साहित्यकारों और मनीषियों ने हिन्दी जनता को जितना प्रभावित किया उतना अंग्रेज साहित्यकार नहीं कर सके । हिंदी में बंगला के अतिरिक्त गुजराती, मराठी, उर्दू से और थोड़ा बहुत तमिल, तेलगू, मलयालम और कन्नड साहित्य में भी अनुवाद हुआ है ।

'पंडितों की पंचायत'[८] शीर्षक निबंध के अनुसार एक युग था जब हमारे देश में लघुमति का अत्यन्त सूक्ष्म गणित प्रचलित था । लेकिन पंडितों का दल संतुष्ट नहीं हुआ। भारतीय और ग्रीक ~~कि~~ पंडितों के ज्ञान का ~~सम्ब~~ संघर्ष भी चलता रहा । भारतीय गणना बहुत परिमाण में यावनी विद्या से समृद्ध हुई । उस दिन किसी की हिम्मत नहीं थी कि आचार्य को शास्त्र पर जबरदस्ती करनेवाला कहे । इस्लाम विजय स्फीत ~~बंब~~ वदा होकर भारतीय संस्कृति को चुनौती देता है । उसके बारबार आक्रमण से

उत्तरी भारत संत्रस्त हो उठता है। भारत वर्ष की पदध्वस्त संस्कृति हिमाद्रि के सामने खड़ी है। चेहरा उसका उदास पड़ गया है। अश्रु लुब्ध नयन कोटरशायी से दिख रहे हैं, वदन कमल मुरझा गया है। हिमाद्रि का मुख मंडल गंभीर है। भ्रूदेश किंचित् कुञ्चित हो गए हैं। विशाल ललाट पर चिंता की रेखाएं उमड़ आई हैं। यह दृष्टि कभी अर्थहीन नहीं हो सकती वह किसी निश्चित सत्य पर निपुण भाव से आबद्ध है मगर सारा भारतवर्ष एक ही दिन उपवास कर एक ही दिन पारणा करें तो निश्चय ही वह एक सूत्र में ग्रंथित हो जाय। हिमाद्रि और उसके अनुयायियों का यही स्वप्न था वह सफल भी हुआ। आज की पंचायत उसी सफलता का सबूत है। भारतीय साधना का अनेक फूहाबह गया। उसके अनेक बीज अंकुरित हो उठे। भारतवर्ष नये उत्साह और नये वैभव से शक्तिशाली हो उठा। जिन दिनों की बात हो रही है उन दिनों भारतवर्ष का प्रत्येक कोना तलवार की मार से भनभना रहा था। बड़े-बड़े मंदिर तोड़े जा रहे थे। मूर्तियां विध्वस्त की जा रही थी। राज्य उखाड़े जा रहे थे। विच्छिन्न हिन्दू शक्ति जीवन के दिन गिन रही थी। सारे द्वीप में एक ऐसा गांव नहीं मिला जहां कुछ घंटों तक एकादशीव्रत के निर्णय की पंचायत बैठ सके। हिन्दू कहलानेवाले जीवों की बात कम विचित्र नहीं है। यदि यहां लोगों को कुत्ते-बिल्ली से भी बदतर माना जाता है। वेश्याओं को मन्दिर में ले जाया जाता है पर सती अन्त्यज रमणियों को प्रवेश नहीं करने दिया जाता। हिन्दुओं का परिचय अभाव के रूप में ही दिया जा सकता है। लेकिन शास्त्रों, पुराणों, स्मृतियों, स्त्रोतों और कर्म-काण्डों के विधि निषेधों से भरे इन पोथों को हम अभाव कैसे मान लें? लेकिन जब कि दिमाग खाली हो तो शास्त्र चर्चा जचती नहीं। 'गतिशील चिन्तन' शीर्षक निबंध में समाजवाद क्या है? इस पर विचार प्रस्तुत हैं। जब भारतवर्ष में समाजवादी सरकार स्थापित हो जाएगी, उस दिन शायद यह एकाधिकार न रहेगा। यह पातालपती राजमार्ग शायद कुछ सुधर गया होगा। उस दूर की भोंपड़ी में शायद विद्युतवर्ती का प्रकाश रहेगा। आज न समुद्रगुप्त का साम्राज्य है, न समाजवाद का। आज है इस निरुपाय, निर्वाक, मूढ़ जनता की बेतुकी भीड़। गुप्तकाल और अंग्रेज काल में बड़ा अन्तर है। कालिदास से

लेकर रवीन्द्रनाथ तक सभी उसी `निष्प्राण`, `बुर्जुआ` मनोभाव के पोषक` काव्य कला के कल कलाकार हैं काव्य कला भी गरीबों के लिए हो सकती है ? कला का निर्माण क्या उसी के लिए होगा ? जमाना बदल गया है आज का मजदूर और किसान कुछ तार्किक हो गया है। वह अपने पूर्वजों की तरह प्राचीन परम्परा को अपरिवर्तनीय विधान मानने को तैयार नहीं है। आज का हरेक कवि, हरेक लेखक, पराजित मनोभाव का शिकार है। हिन्दी में `सभ्यता` और `संस्कृति` शब्द नये हैं।

`सिविलिजेशन` शब्द एक सामाजिक परिस्थिति का द्योतक है। सिविलिजेशन से सामाजिक व्यवस्था के चार उपादानों का ज्ञान होता है (१) धार्मिकव्यवस्था, (२) राजनीतिक संगठन(३) नैतिक परम्परा(४) ज्ञान एवं कला का अनुशीलन। सभ्यता का आन्तरिक प्रभाव संस्कृति है। सभ्यता और संस्कृति में बड़ा घनिष्ठ सम्बंध है। विजीत जाति के व्यक्तियों में जातीय चेतना प्रबल होती है। प्राय: वे अपने देश की संस्कृति के नाम पर विजेता की संस्कृति का मजाक उड़ाया करते हैं। भारतीय संस्कृति कई बलवती सभ्यताओं के योग से बनी है। भारतीय संस्कृति ने भेद की समस्या को उस ढंग से नहीं सुलझाया है जिस ढंग से अमेरिका में सुलझाया गया। भारतीय संस्कृति के प्राण में एकत्व है रक्त में सहानुभूति है। भारतीय संस्कृति ने सदासर्वदा समन्वय के रूप में समस्या का समाधान किया है। हम सभाओं का आयोजन क्यों करते हैं ? केवल अदालतों, कौंसिलों, और विश्वविद्यालयों में मातृभाषा का प्रवेश करा देने से यह कार्य नहीं हो सकता। साहित्य सभाएं कवि, नाटककार या दार्शनिकों को पैदा नहीं करती, केवल उनके लिए क्षेत्र तैयार करती हैं। प्रतिभा को फूलने-फलने का मौका देना साहित्य सभा का मुख्य कार्य है। बहुत से साधु हृदय व्यक्ति अपनी भाषा के प्रति उपेक्षा का भाव पोषण करनेवाले शासकों से झुंझलाकर उनकी कटु समालोचना करते हैं।

`अन्धकार से जूझना है`[१०] निबंध में मनुष्य अन्धकार से प्रकाश की ओर जाना चाहता है। `तमसो मा ज्योतिर्गमय।` प्रकाश और अन्धकार की आंखमिचौनी चलती रही,

[illegible] ही रहेगी` न जाने कितने ज्योतिर्लोक उद्घाटित होने वाले हैं शब्द के बिम्बों के विवर्तीकरण का परिणाम भाषा, काव्य और संगीत है । रूप बिम्बों के विवर्तीकरण के फल रंग, उच्चता, हृदयदीर्घवर्तुल आदि हैं । प्रकाश क्या है ? जिस दिन एक शुभ मुहूर्त में मनुष्य ने मिट्टी के दिये, रुई की बाती, चकमक की चिनगारी और बीजों से निकलनेवाले स्रोत का संयोग देखा । तब सोचा अंधकार को जीता जा सकता है । घने अंधकार में डूबी धरती को आंशिक रूप से आलोकित किया जा सकता है । दीवाली याद दिला जाती है, ~~ज्ञानलोक~~ उस ज्ञानालोक के अभिनव अंकुर की, जिसमें मनुष्य की कातर प्रार्थना को दृढ़ संकल्प का रूप दियाथा । अन्धकार से जूझना है । विघ्न बाधाओं का उपेक्षा करके संकटों का सामना करके, इसके बाद मूलभूत आधाशक्ति क्या है ? इस पर विचार किया गया है । `आलोक पर्व की ज्योतिर्मय देवी[११] शीर्षक निबंध में मार्कण्डेय पुराण के अनुसार मूलभूत आधाशक्ति महालक्ष्मी हैं । वह सत्य, रज और तम तीन गुणों का मूल समवाय है । दीपावली को इसी महालक्ष्मी का पूजन होता है । यूरोपियन पंडितों ने `बहुदेववाद` शब्द के लिए `पालिथीज्म` शब्द का प्रयोग किया है । मैक्समूलर ने इस विश्वास के लिए एक शब्द सुझाया था `हैनोथीज्म`, जिसे हिन्दी में `एकैकदेववाद` कहते हैं । इस प्रकार के धार्मिक विश्वास में अनेक देवताओं की उपासना होती है । उपासना के समय उसके जिस विशिष्ट रूप का ध्यान किया जाता है वही समस्त अन्य रूपों में मुख्य और आदिभूत माना जाता है । दो हजार वर्ष पहले से इस देश में यह विश्वास उठा है कि उपास्य वस्तुत: देवता की शक्ति होती है । दीपावली के पुण्य पर्व पर इसी आधाशक्ति की पूजा होती है । `लक्ष्मी` की उपासना , ज्ञानपूर्वा क्रियापरा` होती है । ज्ञानद्वारा चालित और क्रिया द्वारा अनुगमित इच्छाशक्ति की उपासना होती है ।

`हिमालय १-२`[१२] शीर्षक निबंध में हिमालय के प्रत्येक शिखर प्रत्येक नदी, प्रत्येक सरोवर के विषय में और उनके इर्द-गिर्द रहनेवाली जातियों के विषय में ब्योरेवार चर्चा है । महाभारत और रामायण में पश्चिम से पूर्व तक फैले हुए हिमालय की चर्चा

अनेक बार हुई है । उसने भारतीय धर्म, संस्कृति और जनता को छू अद्भुत ढंग से प्रभावित किया है । यह हमारी अन्तरात्मा का अभिन्न अंग भी है । वह शिव-पार्वती की विहार भूमि है । नर-नारायण की तपोभूमि है । यक्ष-किन्नर, गन्धर्व विद्याधरों का निवास है । सहस्त्र ऋषि-मुनियों की आश्रय भूमि है । गंगा, जमुना, ब्रह्मपुत्रा, सिन्ध, सरस्वती की उद्गम भूमि है । हिमालय की किरात जातियों का इतिहास भी महाभारत और रामायण में मिल जाता है । इस प्रकार हिमालय हमारी भौतिक और आध्यात्मिक समृद्धि का उत्स माना जाता है । हिमालय को हम नगाधिराज के रूप में जानते हैं । कालिदास के मतानुसार हिमालय पृथ्वी के मानदंड समान स्थित है । 'प्राचीन जीवन के सुकुमार विनोद'[१३] निबंधानुसार भारतीय साहित्य की अपनी विशेषता है और महत्वपूर्ण देन भी है । जो उसने संसार के साहित्य को दी है । सहृदय को लक्ष्य करके ही काव्य लिखे गये थे । वे अधिकांश शहर के रहनेवाले या `नागर` थे । उनके मनोविनोद के साधनों में काव्य चर्चा का एक महत्वपूर्ण स्थान था । वात्स्यायन का कामसूत्र कवि की कल्पना नहीं है बल्कि वास्तविक परिस्थितियों को बतानेवाला ग्रन्थ है । कामसूत्र की कलाओं में कई का सम्बंध शब्द और अर्थ अर्थात् काव्य से है । इन कलाओं के प्रधान आश्रय अन्त:पुर थे । पुरुषों की दुनिया में वास्तविकता के कठोर आघातों से रोमांश का कोमल और मनोरम वातावरण प्राय: थु क्षुब्ध हो जाता था । प्राचीन भारत का यह अन्त:पुर वस्तुत: सब प्रकार की सुकुमार कलाओं का घर था । कला और विद्या के आश्रयस्थान ऐसे ही रईस थे । कामसूत्र से जान पडता है कि उन दिनों गंधर्व शालाओं में प्रत्येक नागरिक के लडकों को जिन कलाओं को सीखना जरूरी था उनमें सर्व प्रधान गीत, वाद्य और नृत्य है । दूसरा महत्वपूर्ण विनय मनोविनोद चित्रकर्म था । विष्णु धर्मोत्तर पुराण के चित्रसूत्र में कहा गया है कि समस्त कलाओं में चित्रकला श्रेष्ठ है । समृद्ध लोगों के घर की दीवालें स्फटीक मणि के समान स्वच्छ और दर्पण के समान चिकनी हुआ करती थी । इस दीवाल को पहले समान करके चूने से बनाया जाता था । उस पर लेप द्रव्य लगाते थे जो नये भैंस के चमडे को पानी में घोटकर बनाया जाता था । चित्र में कई प्रकार के रंग काम में लाये जाते थे । पंचदशी

नामक वेदान्त ग्रन्थ से जाना जाता है कि ऐसे चित्र चार अवस्थाओं से गुजरते थे। मार्कण्डेय मुनि ने कहा था नृत्य और चित्र इन दोनों ही कलाओं में त्रैलोक्य की अनुकृति होती है। नृत्य ही परम चित्र है। कालिदास के ग्रंथों से जान पड़ता है कि विवाह के समय देवताओं के चित्र बनाकर पूजे जाते थे। कालिदास की शकुंतला में राजा दुष्यंत ने शकुन्तला का जो चित्र बनाया था जिसमें शकुंतला के दोनों नेत्र कान तक फैले हुए थे। भ्रू-लता लीला द्वारा कुंचित थे। अधर देश उज्ज्वल दसन छबि की ज्योत्सना से समुद्भासित थे, ओष्ठ प्रदेश पकी बेर के समान पाटलवर्ण के थे। कालिदास के चित्र में जो जो गुण बताये हैं वे निश्चित रूप से उत्तम कला के सबूत हैं। 'लोकभाषा में सांस्कृतिक इतिहास की भूली कड़ियां'[१४] निबंध में प्राचीन भारतीय संस्कृति के विषय में लिखा गया है। संस्कृत के पुराने ग्रंथों में हिन्दी भाषा पर भी थोड़ा प्रकाश डाला गया है। बौद्ध संप्रदायों के विषय में ब्राह्मण ग्रंथों से जो कुछ पता चलता है वह केवल अपूर्ण ही नहीं भ्रामक भी है। भारतीय धर्म साधना का अध्ययन बहुत जटिल और उलझा हुआ कार्य है। लिंग पुराण में पाशुपत तीन प्रकार का बताया गया है। मुसलमानी आक्रमण तीर फलक के समान उत्तर भारत में ~~हनेनी~~ तेजी से घुस गया। नाथ और निरंजन मत इस तीर फलक के इर्द-गिर्द नये वातावरण के अनुकूल बनने लगे। कहीं उसने वैष्णव का रूप ग्रहण किया, कहीं शैव का। सोलहवीं शताब्दी में उड़ीसा में छ: बड़े भक्त वैष्णव~~कवि~~ कवि हुए। इसके बाद निरंजन मत आता है। रमाई पंडित के शून्य पुराण में धर्म को शून्य रूप निराकार और निरंजन कहकर ध्यान किया गया है। भगवान बुद्ध ने आज से ढाई हजार वर्ष पहले जिस धर्म मत का प्रचार किया था उसे मध्यम मार्ग कहा जाता है। मध्यम मार्ग अर्थात् बीच का रास्ता। मध्यम मार्ग की तर्कसंगत परिणति गृहस्थ धर्म में ही हो सकती है। पालि भाषा के ग्रंथों में भिक्षु धर्म पर जोर है। परन्तु परवर्ती ग्रंथों में इस प्रकार की बातें भी मिल जाती है कि गृहस्थ जीवन में निर्वाण प्राप्त करना एकदम असम्भव नहीं है। सांस्कृतिक एकता का सबसे बड़ा आधार बौद्धधर्म में दिया है। बुद्धदेव और महान बौद्ध धर्म ने अनेक देशों के बीच सांस्कृतिक सेतु का निर्माण किया। 'संस्कृति क्या है' निबंध में हमारा अलग अलग राष्ट्रीय

व्यक्तित्व है परन्तु हमारी जनता की नाड़ी में एक ही प्रकार का सांस्कृतिक रक्त बह रहा है। संसार में व्यक्तियों, वर्गों और राष्ट्रों के स्वार्थ ने ऐसी दारुण अवस्था की सृष्टि की है कि शांति का नाम लेना भी हास्यास्पद जान पड़ता है। मानवी प्रयत्नों के समुद्र में भयंकर मंथन हो रहा है पता नहीं दूसरे कितने रत्न निकलेंगे। कितना हिस्सा विष का होगा और कितना अमृत का। परन्तु अभी तो ऐसा लगता है कि स्वार्थों का दानव नाना छलों से मनुष्य के अमृत को विशेष भाव से पी ही जाएगा। कविवर रवीन्द्रनाथ ने जीवन भर शांति और मंगल की वाणी का प्रचार किया था।

'हिन्दी पर वैष्णव धर्म का प्रभाव' शीर्षक निबंध में भाषा शास्त्र के प्रकाण्ड पंडित डा० ग्रियर्सन मध्य युग के इस आंदोलन के सम्बंध में कहते हैं- 'बिजली की चमक के समान अचानक इस समस्त अंधकार के ऊपर एक नई बात दिखाई दी। कोई हिन्दू नहीं जानता था कि यह बात कहां से आई अ कोई भी इसके प्रादुर्भाव का काल निश्चित नहीं कर सकता। किन्तु ये सभी शास्त्रीय ग्रंथ जो इसके सम्बंध में लिखे गये हैं और जिनका काल निश्चयपूर्वक बताया जा सकता है ईसाई सन् के बहुत बाद में लिखे गये हैं।'[१५] यह बात स्पष्ट है कि मध्य युग का भक्ति आंदोलन संसार ~~संसार~~ के इतिहास में बेजोड़ है। इस युग का धर्म ज्ञान का विषय नहीं रस का विषय है, दूसरे शब्दों में इस युग के धर्म और कला को अलग-अलग रखकर विचार नहीं किया जा सकता। हिन्दी साहित्य के ऊपर वैष्णव धर्म का प्रभाव का अध्ययन एक विशाल कार्य है। साहित्य की धर्म के साथ इस प्रकार की अद्भुत एकात्मता संसार के इतिहास में उल्लेखनीय है। परन्तु कुछ ऐसी बातें हैं जिनके कारण वैष्णव साहित्य और वैष्णव साधना की एकता संसार के इतिहास में एक नयी बात है। अलंकार संप्रदाय के प्राचीनतम आचार्यों दंडी और भामह ने अलंकार को ही प्रधान माना है। आठवीं शताब्दी के आसपास अलंकार शास्त्र में ध्वनि संप्रदाय जोर पकड़ता दिखायी देता है। इस युग की देशी भाषाओं के साहित्य का संसार की साहित्य साधना में यही महान दान है। गौड़ीय वैष्णवों के मत से पांच रस होते हैं। वैष्णव भक्त भी भगवान को 'पतितपावन' कहते हैं। करुणा सिन्धु कहते हैं और ईसाई भक्त भी ऐसा ही कहते हैं। रामभक्ति की

धारा के प्रवर्तक आचार्य रामानन्द हैं । `समाज संस्कार पर विचार`[१६] निबंध में हिन्दू समाज क्या था ? शास्त्र विधि क्या है ? भगवान श्री कृष्ण ने गीता में किसी कार्य- अकार्य के निर्णय में शास्त्र विधि की जानकारी को आवश्यक बताया है । जहां सत्य बोलने से लोक कल्याण में बाधा पड़ती हो वहां सत्य नहीं बोलना चाहिए किन्तु सत्य से भी बड़ी वस्तु है प्राणिमात्र की हित चिंता । जब सत्य और अहिंसा के सम्बंध में ही कार्याकार्य विनिर्णयात्मक महाभारत इस प्रकार बंधन लगा देता है तो जांत-पांत, छुआछूत आदि की बात सुदूर हो जाती है । `सर्वभूतहित` के विविध पहलू हैं- आध्यात्मिक, राजनीतिक, अर्थशास्त्रीय आदि । सर्वभूतहित या प्राणी मात्र का कल्याण एक ऐसा अस्पष्ट कथन है जिसके इच्छानुसार अर्थ किये जा सकते हैं । `हिन्दू-समाज` बड़ा व्यापक शब्द है और हिन्दू धर्म तो भ्रामक शब्द है । वस्तुत: हिन्दू धर्म कोई धर्म नहीं संस्कृति का नाम है । जो इस संस्कृति को अपनी समझता है, उसके लिए अभिमान करता है उसे प्रचलित देखना चाहता है वही हिन्दू है । अन्तर्जातीय विवाह, जातिभेद के बतानेवाले प्राचीन दृष्टिकोण को समझने के लिए यह विषय सर्वाधिक महत्वपूर्ण है । `हिन्दू संस्कृति के म अध्ययन के उपादान`[१७] निबंध में भारतीय संस्कृति का वर्णन किया गया है । देश और काल में अति विस्तीर्ण हमारे इस महादेश की सभ्यता और संस्कृति का अध्ययन करना जितना ही कठिन है उतना ही सरस भी । इस देश का उपलब्ध साहित्य बहुत महत्वपूर्ण है । नृतत्व दृष्टि से देखनेवाले पंडितों ने जनसमूह कन में सात प्रकार के चेहरे खोज निकाले हैं । तुर्क इरान टाइप, हिन्द आर्य टाइप, शक द्राविड टाइप, आर्य द्राविड टाइप, मंगोल ~~द्रवर्न~~- द्राविड टाइप, मंगोल टाइप, द्राविड टाइप । आर्यों के इस देश में आने के पहले प्रधान रूप से तीन श्रेणियों की मानव मण्डलियां इस देश में बसती थी । भाषा शास्त्र के अध्येताओं के अनुसार कभी ये जातियां मूल रूप में आस्ट्रेलिया के विशाल द्वीप से लेकर एशिया के दक्षिणी और दक्षिणपूर्वी हिस्सों तक फैली हुई थी । प्राचीन साहित्य में असुर, दैत्य, दानव, नाग, सुवर्ण, यक्ष, किन्नर, गन्धर्व आदि अनेक जातियों की चर्चा है । पुराणों में इन

जातियों की अनेक आधार परंपराएं, धर्म कथायें, व्रत आदि संगृहीत है। वस्तुत: आजकल हिन्दुओं में जिस जटिल ढंग की जाति प्रथा वर्तमान है उसका कोई एक मूल नहीं है। 'संस्कृतियों का संगम'[९८] निबंध में लेखक के अनुसार अलग- अलग जातियां यहां आकर बसी, जो आचार- विचार में एक दूसरों से भिन्न थी। इस भूखण्ड में मुण्डा या कौल श्रेणी की जातियां बसती थी। इन जातियों के अध्ययन से हमारे धर्म जीवन की परंपरा के अध्ययन में सहायता मिलने का संभव था। पर दुर्भाग्यवश इनका जितना अध्ययन होना चाहिये उतना नहीं हुआ है। आधुनिक शोधों के अनुसार उत्तर और दक्षिण के प्रागैतिहासिक युग के इतिहास में एक बड़ा भारी अंतर यह है कि उत्तर में प्रस्तरयुग और लौह युग के बीच में ताम्र युग आता है जबकि दक्षिण में प्रसार युग के बाद एकदम लौहयुग आ जाता है। ई० सन् १९२० में डा० राखलदास बनर्जी ने और पं० दयाराम सहानी ने मोहनजोदडो और हडप्पा की शोध से एक अत्यन्त समृद्ध आर्यपूर्व सभ्यता का पता लगाया था।

'नाखून क्यों बढ़ते हैं ?'[९९] निबंध में बच्चे कभी-कभी चक्कर में डाल देनेवाले प्रश्न कर बैठते हैं। यहां एक छोटी सी बच्ची के प्रश्न नाखून क्यों बढ़ते हैं ? शीर्षक रूप लिया गया है। नाखूनों का प्राचीन भारतीय संस्कृति से क्या सम्बन्ध था यह बताया गया है। जिस तरह अपनी बुरी करतूतों से अपराधी को जेल जाना पडता है, सजा भुगतनी पडती है, फिर से वह बाहर आते ही अपनी पुरानी आदतों को शुरू कर देता है। परिणाम स्वरूप फिर से कैदी बनता है ठीक वैसे ही नाखूनों का भी हाल है। आर्य और अनार्य ये दोनों जातियां झगड़ने लगी। आर्य विजयी हुए, नाग, सुवर्ण, यक्ष, गन्धर्व, असुर, राक्षस, आदि हारे। नखधर मनुष्य अब ऐटमबम पर भरोसा करके आगे की ओर चल पड़ा है। उसके नाखून अब भी बढ़ रहे हैं। अब भी प्रकृति मनुष्य को उसके भीतर वाले अस्त्र से वंचित नहीं कर रही है। आज के आधुनिक युग में मनुष्य को नाखून की कोई जरूरत नहीं है। उसके भीतर बर्बर युग का कोई अवशेष

रह जाय यह उसे असह्य है । असल में देखें तो बर्बरता घटने के बजाय बढ़ती ही जाती है । नाखून को मनुष्य की भयंकर पाशवी वृत्ति का जीवन्त प्रतीक कहा है । मनुष्य की पशुता जितनी बार भी काट दो वह मरना नहीं जानती । गौड़ देश के लोग इन दिनों बड़े- बड़े नखों को पसन्द करते थे और दाक्षिणात्य लोग छोटे नखों को। नाखून को काटने की प्रवृत्ति मनुष्यता का प्रमाण है । गौतम के अनुसार मनुष्य की मनुष्यता यही है कि वह सबके सुख-दुख को सहानुभूति से देखें । यह आत्मनिर्मित बन्धन है जो मनुष्य को मनुष्य बनाता है ।

'भारत की समन्वय साधना'[20] में धर्म और दर्शन के क्षेत्र में भारत वर्ष के धार्मिक और दार्शनिक क्षेत्रों की साधना का इतिहास बहुत प्राचीन है । इस देश में सभ्यता के उषाकाल से लेकर आधुनिक काल के आरंभ काल तकविभिन्न मानव समूहों की धारा बराबर चली आ रही है । सारे भारतीय दर्शन मानते हैं कि शरीर और मन की शुद्धि आवश्यक है । मनुस्मृति के आरंभ में ही धर्म की परिभाषा में कहा गया है कि धर्म वह है जो जानकर, सच्चे , रागद्वेषहीन, व्यक्तियों द्वारा सेवित या आचरित होता है । समस्त भारतीय धर्म साधनाएं और दर्शन अभ्यास और वैराग्य पर बल देते हैं । भारतीय संस्कृति इतने अतिथियों को अपना सकी है क्योंकि उसकी धर्म साधना शुरू से ही वैयक्तिक रही है । कुलीनता पूर्व जन्म के कर्मों का फल है । भारतीय इतिहास में इस्लाम का आगमन एक बहुत ही महत्वपूर्ण घटना थी ।'एक कुत्ता और एक मैना'[21] शीर्षक निबंध अशोक के फूल में संकलित है । कुत्ते को लक्ष्य करके रवीन्द्रनाथ जी ने 'आरोग्य' में एक कविता लिखी थी ।'प्रतिदिन प्रात:काल यह भक्त कुत्ता स्तब्ध होकर आसन के पास तब तक बैठा रहता है जब तक अपने हाथों से मैं(रवीन्द्रनाथ) इसका संग नहीं स्वीकार करता ।इतनी सी स्वीकृति पाकर ही उसके अंग अंग में आनंद का प्रवाह बह उठता है ।" इस वाक्यहीन प्राणिलोक में सिर्फ यही एक जीव अच्छा बुरा सबको भेदकर संपूर्ण मनुष्य को देख सका है, उस आनंद को देख सका है जिसे प्राण दिया जा सकता है । जिसमें अहैतुक प्रेम ढाल दियाजा सकता है, जिसकी चेतना असीम चैतन्यलोक

में राह दिखा सकती है । इसकी भाषाहीन करुण व्याकुलता जो कुछ समझती है उसे समझा नहीं पाती और मुझे इस दृष्टि से मनुष्य का सच्चा परिचय समझा देती है ।"[२२] इस प्रकार कवि की मर्मभेदी दृष्टि व ने इस भाषाहीन प्राणी की करुण दृष्टि के भीतर उस विशाल मानव सत्य को देखा है, जो मनुष्य मनुष्य के अंदर भी नहीं देख पाता । इसके बाद गुरुदेव ने एक लंगडी मैना के बारे में कहा है -"देखते हो, यह यूथ भ्रष्ट है, रोज फुदकती है, ठीक यहीं आकर मुझे इसकी चाल में एक करुण भाव दिखाई देता है ।"[२३] इस प्रकार की मैना कभी करुण भी हो सकती है यह निबंधकार का विश्वास ही नहीं था । गुरुदेव की बात से मालूम हुआ कि सचमुच ही उसके मुख पर एक करुण भाव है । शायद यह विधुर पति था, जो पिछली स्वयंवर सभा के युद्ध में आहत और परास्त हो गया था ? या विधवा पत्नी है ? जो पिछले आक्रमण के साथ पति को खोकर युद्ध में चोट खाकर एकान्त विहार कर रही है । इसी मैना को लक्ष्य करके गुरुदेव ने बाद में एक कविता लिखी ।

साहित्यिक निबंध :

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने साहित्य विषयक प्रचुर निबंध लिखे हैं । 'साहित्य में मौलिकता का प्रश्न'[२४] निबंध में निबंधकार ने साहित्य की मौलिकता क्या है ? यह बताया है । हिन्दी साहित्य में 'मौलिकता' शब्द का प्रयोग नया म ही है । मध्यकाल में बहुत उच्चकोटि के ग्रंथ प्राचीन ऋषियों और देवताओं के नाम से लिखे गये हैं । उनमें संस्कार भी हुए हैं, परिवर्तन भी हुए हैं, लेकिन लेखक सदा अपने आपको छिपा लेने का प्रयत्न करता है । इसी काल में पूर्ववर्ती ग्रंथों की टीकाएं या भाष्य लिखे जाते थे इन भाष्यों, टीकाओं आदि में प्रचुर मौलिक चिंतन और बौद्धिक सूक्ष्मता प्राप्त होती है तथापि टीका करनेवाला उसे पूर्ववर्ती ज्ञान का साधारण रूप मानता है । साहित्य के क्षेत्र में प्रख्यात चरित्र और प्रसिद्ध घटनाओं का विन्यास नये सिरे से किया जाता है । हमारे देश की नवीन शिक्षा प्रणाली उन्नीसवीं शताब्दी के मानवतावादी उदारमना यूरोपियन आदर्शों के अनुकरण पर चलाई गई है । भारतवर्ष

की नवीन शिक्षा प्रणाली इसी आधार पर गठित हुई और नये शिक्षित लोगों में यही विचार जड़ जमाने लगा। प्रत्येक मनुष्य का व्यक्तित्व अलग है और साहित्य में उसके व्यक्तित्व के विशिष्ट अंश का प्रतिबिम्ब होना उसकी मौलिकता है। जिस प्रकार व्यक्ति या मानव को पितृ पितामहों से प्राप्त गुण दोषों से संबल या निर्बल बनाते हैं, उसी प्रकार सामाजिक व्यक्तित्व भी अपने पूर्ववर्ती आचार्यों, कवियों, दार्शनिकों और विचारकों से प्राप्त रीति के अनुसार सबल या निर्बल होता है। कविवर श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने बंगला में ओरिजनालिटी के तौल पर चलनेवाले 'मौलिकता' के लिए स्वकीयता शब्द चलाया था। 'साहित्य विचार में प्राचीन ग्रन्थों का महत्व'[२५] शीर्षक निबंध में समालोचना के बारे में कहा गया है कि समालोचना की दुनिया निराली है। जब नये विज्ञान युग का आविर्भाव इस देश में हुआ तो दुर्भाग्यवश हमारी शिक्षा पद्धति एक दम अभारतीय हो गई। प्राचीन ग्रंथों का प्रेरणास्रोत विदेशी विचारक बने रहे। शिक्षितों ने अपने पुराने साहित्य के प्रति एक ऐसा मनोभाव पैदा कर लिया, जिसे अंग्रेजी में 'म्यूजियम इन्टरेरी' कहते हैं। प्राचीन साहित्य और प्राचीन अलंकार ग्रंथों की पठनपाठन की ओर अधिकाधिक रुचि उत्पन्न हुई है। मशीनों ने दुनिया में नवीन क्रान्ति ला दी है। छापे की मशीन ने साहित्य को जन-साधारण तक पहुंचाने के साधन सुभल सुलभ कर दिये हैं। वस्तुत: साहित्य शब्द का प्रथम प्रयोग कुंतक नामक आचार्य ने शब्द और अर्थ के ऐसे विशिष्ट साहचर्य के अर्थ में ही किया था। प्राचीनों का विश्वास था कि पूर्व जन्म के पुण्य से या मंत्र सिद्धि से या देवता के वरदान से बीच में अचानक कवित्व प्राप्त हो जाता है। यद्यपि शास्त्र के अनुसार काव्य यश के लिए व्यवहार ज्ञान के लिए, अमंगल निवारण के लिये लिखे जाते थे। अर्थात् जीवन की लगभग समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए काव्य लिखे जाते थे पर ज्यादातर जोर कीर्ति पाने पर ही दिया गया है। मध्य युग के अनेक प्रयत्नों के मूल में कीर्ति पाकर अमर होने की लालसा काम कर रही है। कविवर रवीन्द्रनाथ ने लिखा है कि- 'वाक्य जब सीधा खड़ा रहता है तब केवल अर्थ को प्रकट करता है परन्तु जब वह तिरछी, भंगिमा में खड़ा होकर गतिशील हो उठता है तो- साधारण अर्थ के अतिरिक्त

और भी अनेक बातें प्रकाशित करता है ।

'साहित्य का मर्म'[२६] निबंधानुसार आधुनिक युग में पाठक भी बदल गया है । और कवि भी बदला है । काव्य में वैयक्तिक स्वाधीनता का प्रवेश हुआ है, क्षणिक आवेग, सामयिक उन्माद, अधीर विनिवेदन तब तक भारतीय कवि के चित्त को मुग्ध नहीं करते जब तक वे संयम, तप और भक्ति में स्नान करके पवित्र न हो गए हों । भारतीय साहित्य में वह वस्तु एकदम नहीं मिलेगी जिसे पश्चिम के साहित्य में 'समाज के प्रति विद्रोह भावना' कहकर एक बहुत बड़ा नाम दिया गया है । आधुनिक सौन्दर्य शास्त्री ट्रेजेडी को सर्वप्रेरक और सर्वग्राह्य वस्तु मानते हैं । समूचे भारतीय काव्य में वह चीज जिसे वैयक्तिक स्वाधीनता कहते हैं जिसमें कवि हर दृष्टव्य को अपने अनुराग विराम में डुबोकर देखता है आधुनिक युग की उपज है । सचाई गलत ढंग से देखी जाने पर अवहेलनीय हो जाती है जो मनुष्य मानता है कि यह संसार क्षण भंगुर है, इस परिवर्तमान क्षणभंगुरता के बाह्य आवरण के भीतर एक चिरन्तन सत्ता है जो सब सत्यों का सत्य है और जिसे आश्रय करके ही बाह्य जगत की सत्ता प्रतिमान हो रही है । वह जीवन के गंभीर कहे जानेवाले प्रश्नों को मानता नहीं है । जिसे आजकल जीवन कहा जाता है वह एक क्षणिक पड़ाव है । उनका मूल्य स्वप्न में देखे हुए सुख स्वप्न के समान नितान्त क्षणभंगुर है । जीवन के गंभीरतर समझे जानेवाले प्रश्नों का साहित्य में समाधान खोजना आधुनिक प्रवृत्ति है । जीवन एक सिरे से दूसरे सिरे तक इस प्रकार झकझोर दिया गया है कि पुराने संचित संस्कार बुरी तरह झड़ गए हैं और एक दूसरे से उलझ गये हैं । किसी एक विचार को भारतीय विचार कह देना न केवल अपनी अल्पज्ञता का प्रदर्शन करना है बल्कि देश की विशाल ज्ञान परंपरा का अपमान करना ही है । समस्या समाधान गद्य का काम है । जीवन की चरितार्थता काव्य का अभिप्रेत है । जब तक यह काव्य जीवन का अंग नहीं बन जाता, तब तक मनुष्य दीन होता है । प्रकाशहीन होता है, पर काव्य का रस जब उसे मिल जाता है तब उसे उस वस्तु का अनुभव होता है जो 'मनुष्यता' है । उपन्यास में आवेग कम होते हैं क्योंकि उनकी भाषा में गद्यात्मकता -

होती है । मनुष्य का चित्त सर्वत्र कार्यकारण की श्रृंखला खोजता रहता है । अनुभूति और वेदना के क्षेत्र में भी । अधर का माधुर्य एक श्रेणी की चीज है, और चीनी का माधुर्य दूसरी श्रेणी की । चीनी के संस्पर्श से कोई वस्तु मीठी हो जाती है पर अधर के संस्पर्श से नहीं होती । आज हम साहित्य की जिस ढंग से चर्चा करते हैं वह पुराने भारतीय ~~म~~ ढंग के अनुरूप न होकर यूरोप के आधुनिक ढंगों के अनुरूप है । मनुष्य की जो सूक्ष्म और गहनीय साधना है उसी का प्रवेश साहित्य है । 'साहित्य में व्यक्ति और समष्टि'[27] निबंध में कहा गया है कि ज्ञान दो मुहा पदार्थ है । उसके एक ओर तथ्य है, दूसरी ओर सत्य । सभी तथ्य सत्य नहीं होते । प्रत्येक व्यक्ति अपनी ज्ञानेन्द्रियों के सहारे ~~स्मरण-करता-है~~ कुछ तथ्यों की उपलब्धि करता है, और कुछ बातों को उपलब्धियों के सहारे स्मरण करता है । इससे व्यक्ति की दुनिया बनती है । निरंतर परिवर्तन और परिवर्धमान इन उपलब्धियों के लिखित रूप को ही हम सामान्य रूप से साहित्य कहते हैं । व्यक्ति यदि अपने आपमें ही परिपूर्ण होता तो शब्द द्वारा अर्थ को प्रकट करनेवाली भाषा की आवश्यकता नहीं होती । प्राचीन कथाओं की गद्य समझी जानेवाली भाषा में भी एक प्रकार का छन्द है । वस्तुत: अर्थहीन छन्द प्रवाह संगीत ही है । संगीत में बाह्यजगत की उस सत्ता से योग होता है, उसी प्रकार जिस प्रकार गणित में । विभिन्न आवेगों से भिन्न-भिन्न जाति और आकृति के कम्पन्न उत्पन्न होते हैं जिस प्रकार से काव्य से उत्पन्न होते हैं। फिर भी संगीत से उत्पन्न कम्पनों का योग बाह्य सत्ता से कम होने के कारण श्रोता के चित्त में उतनी गाढ़ अनुभूति
सामाजिक वस्तु है । साहित्य की नई मान्यताएं[28] निबन्धानुसार साहित्य की मान्यताएं
नहीं होती जितनी काव्यजनित आवेग के कम्पन से होती है । अर्थात् काव्य जीवन की मान्यताओं से विच्छिन्न नहीं होती । आज से सौ वर्ष पहले का ~~[illegible]~~ सहृदय साहित्य में जिन बातों को त्याज्य समझता था उनमें से कई अब उतनी अस्पृश्य नहीं मानी जाती । निचले स्तर में जन्म लेना अब किसी पुराने पाप का फल नहीं माना जाता बल्कि मनुष्य की विकृत समाज व्यवस्था का परिणाम माना जाने लगा है । रस बोध पर विचार करते समय पंडितों ने स्वीकार किया है कि दो विरुद्धभाव एक ही आश्रय के मन में आ सकते हैं । इसे रसबोध कहते हैं । आज के नवशिक्षित चित्त में

शायद ऐसा कोई रस विषयक सिद्धान्त नहीं है। संस्कृति किसी जाति विशेष या देश विशेष की अपनी वस्तु नहीं है, बल्कि परिस्थिति विशेष की देन होती है। हम अपने देश के आधुनिक मानस गठन को भी समझ सकेंगे और उस विकृत मानसिक प्रतिक्रिया का भी रहस्य समझ सकेंगे, जो हर नवीन को 'पाश्चात्य' कहकर पहचानती है। उन दिनों जड़ विज्ञान नित्य नये सुधरे यंत्रों को उत्पन्न कर रहा था। भौतिक सम्पत्ति की बढ़ोत्तरी यथार्थता और युक्तियुक्त विचारधारा के प्रति निष्ठा उत्पन्न करती है और विचारगत संयम को बढ़ावा देती है। अंग्रेजी चरित्र के इस पहलू ने तत्कालीन भारतीय शिक्षित चित्त को आकृष्ट किया था। विकासवाद का सिद्धान्त आजकल प्राय: सर्वस्वीकृत सिद्धान्त है। वैदिक साहित्य में मूल प्रेरणा स्रोत के रूप में यज्ञयाग का स्थान है। धर्म और विश्वास के क्षेत्र में मनुष्य रूप की प्रतिष्ठा स्वीकृत हो चुकी थी। शास्त्र और काव्य दोनों में देवता का नाम लिया जाता रहा पर मनुष्य ही वास्तविक प्रतिपाद्य था। यह विश्वास कियाजाने लगा कि भगवान असुर का रूप धारण करके नानाभाव से भक्त की सहायता करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न युगों में साहित्यिक साधनाओं के मूल में कोई न कोई व्यापक मानवीय विश्वास होता है। आधुनिक युग का यह व्यापक विश्वास मानवतावाद है। सब प्रकार के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक शोषणों से मनुष्य को मुक्त किया जाना चाहिए। ज्यों-ज्यों मानवतावाद और व्यक्तिवादी स्वर विकृत होता गया और राष्ट्रीयतावादी और उत्कर्षवादी स्वर प्रबल होता गया त्यों-त्यों इस अध्ययन के प्रयत्न में भी शिथिलता आती गई।

'नई समस्याएं'[२६] निबंध में भाषा विषयक चर्चा है। हिन्दी साहित्यिकों के सामने इस समय कई अत्यन्त महत्व के प्रश्न हैं। प्रथम अत्यन्त जटिल प्रश्न उपस्थित हुआ है बोलियों का। कई बोलियों के बोलनेवाले अपनी विशेष बोली को स्वतंत्र भाषा के रूप में विकसित करना चाहते हैं। हिन्दी उप भाषाओं के स्वतंत्रता के दावे की बात सिर्फ कई जटिल प्रश्नों में से एक है। भाषा और साहित्य के प्रश्न पर इतने मतमतांतर

उत्पन्न हुए हैं कि हम लोगों ने हिन्दी के भविष्य की जो मनोहर कल्पना की थी वह धुंधलाती नजर आती है। साहित्य की सबसे बड़ी समस्या मानवजीवन है। अगर साहित्य की रचना कोई भला काम है तो दस अन्य भले कामों के समान ही उसका लक्ष्य भी मनुष्य जीवन को सुखी बनाना है। मनुष्य को दृष्टि में रखकर हमें अपनी साहित्यिक समस्याओं का समाधान खोजना चाहिए। हिन्दी केन्द्रीय भाषा है आज वह भारतवर्ष की सबसे जबरदस्त भाषा हो गई है। इस केन्द्रीय भाषा की लपेट में लगभग समूचा उत्तरभारत आ गया है। केन्द्र से दूर दूर प्रदेश भी इस केन्द्रीय भाषा को शिष्ट व्यवहार और साहित्यिक तथा अन्यान्य सार्वजनिक कार्यों की भाषा मानने लगे हैं। साहित्य की भाषा वह होनी चाहिये जिसका मनुष्य बिना प्रयोग किए ही शुद्ध प्रयोग कर सके। किन्तु मनुष्य अपनी अप्रयत्न सिद्ध अवस्था में रहनेवाला प्राणी नहीं है। प्रत्येक वस्तु की उत्पादन की योजना होनी चाहिए। व्यवहार की मर्यादा होनी चाहिये। महायुद्ध ने नितांत अंध लोगों को भी यह अनुभव करा दिया है कि बिना योजना के उत्पादन, वितरण और व्यवहार का चलते रहना महानाश को निमंत्रण देना है। भाषा के मामले में हमें सावधानी से काम लेना है हमें ऐसी भाषा बनानी है जिसके द्वारा हम अधिक से अधिक क्षुधानिवृत्ति का संदेश दे सकें। जिस दिन हिन्दी बहुत समृद्धशाली हो रहेगी, उस दिन अपने देशवासियों को अंग्रेजी भाषा सीखनी पड़ेगी। मनुष्य समस्त इतिहास, पुराणों और व्याकरण न्यायों से बड़ा और शक्तिशाली है। मनुष्य का सुख शांति की स्थायिता के लिये हमें जहां मनुष्य के ऊपरी भेदों-विभेदों और ऐतिहासिक विश्वासों को ध्यान में रखना आवश्यक है। जाति व्यवस्था ने इस देश में एक ऐसी हीनता भर दी है कि अधिकांश जनसमुदाय अपने प्राचीन संस्कारों और परंपराओं को धो डालने में बिल्कुल नहीं हिचकते। 'हिन्दी उपन्यासों में यथार्थवाद का आतंक'[30] निबंधानुसार यथार्थवाद को हमारे लेखकों ने विश्वास के रूप में नहीं बल्कि आवश्यक साधन के रूप में ग्रहण कर लिया है। निबंधकार उपन्यास नामक साहित्यांग के यथार्थवादी होने में ही उसकी सफलता मानता है। उपन्यास और कहानी के लिए यथार्थवाद प्राण है। यह ऐसी एक मानसिक प्रवृत्ति है जो निरन्तर अवस्था के अनुकूल परिवर्तित और रूपायित

होती रहती है और इसलिए नाना प्रकार के कला रूपों को अपनाने की अद्भुत क्षमता रखती है। जन्म से ही उपन्यास यथार्थ जीवन की ओर उन्मुख रहा है उसके पैर ठोस धरती पर जमे हैं और यथार्थ जीवन की कठिनाइयों और संघर्षों से छनकर आनेवाला, 'अव्याज मनोहर' मानवीय रस ही उसका प्रधान आकर्षण है। विज्ञान के प्रभावशाली रूप धारण करने के बाद क्रमश: मनुष्य की सोचने-विचारने की प्रणाली में परिवर्तन होते गये। हिंदी का पिछला क्षेत्र बहुत सीमित क्षेत्रों में आबद्ध रह गया था। यथार्थ की उसमें उपेक्षा तो नहीं थी किन्तु यथार्थ को मादक बनाकर प्रकट करने की प्रवृत्ति जोरों पर थी। जिन दिनों हिंदी के उपन्यास कुछ-कुछ प्रगतिवादी सिद्धान्तों से प्रभावित होने लगे उन दिनों विज्ञान बहुत आगे निकल गया था और यूरोपीय साहित्य में प्राणी विज्ञान की मर्यादा चढ़ाव पर नहीं थी। 'सच्चा साहित्यकार'[३१] निबंध में साहित्य के मूल प्रेरणास्रोतों को खोज निकालने और समूचे साहित्य को मानव कल्याण के लिए नियोजित करने की चेष्टा आज जितनी प्रबल है उतनी कभी नहीं थी। साहित्य विचार आज जितनासाहित्यिक गतिरोध से चिन्तित हुआ है उतना कभी नहीं हुआ था। साहित्यिक गतिरोध दूर करते है विशाल हृदयवाले साहित्यिक। साहित्यकार जो कहानी लेता है जीवन की जिन परिस्थितियों की उद्भावना करता है यह दीपशिखा के समान आंच के लिए नहीं बल्कि प्रकाश के लिए होती है। हिन्दी तथा अन्य भाषाएं[३२] निबंध में कहा गया है कि हिन्दी का एक रूप निर्धारित हो चुका है। संसार के प्रत्येक कोने में भारत की यह राष्ट्रभाषा निकट भविष्य में अपना उचित स्थान प्राप्त करेगी। प्रधानत: दो बातों से इस युग की भाषा का रूप ज्यादातर स्थिर हुआ है। हिन्दी संस्कृत के शब्दों को अपनाकर ही सारे देश की सहजगृहीत राष्ट्रभाषा बनने का गौरव पा सकती है। हिन्दी के परिनिष्ठित रूप प्राप्त होने में दो बातों का महत्वपूर्ण स्थान है। संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग दूसरा सार्वदेशिक ढांचा - यह सार्वदेशिक ढांचा खड़ी बोली है। खड़ी बोली को सार्वदेशिक महत्व प्राप्त कराने में मुसलमान शासकों की सेवा अविस्मरणीय है। उर्दू हिंदी की एक शैली मात्र है। अलग भाषा नहीं है। ऐतिहासिक कारणों से हमारे देश की राजनीति ने जो करवट ली है उसमें उर्दू को वह स्थान

कभी भी प्राप्त नहीं हो सकता जो अब तक उसे प्राप्त हो रहे हैं । 'सहज भाषा का प्रश्न'[33] निबंध में सहज भाषा क्या है ? यह प्रश्न उपस्थित करते हुए कहा गया है कि सहज भाषा वह है जो मनुष्य को आहार निद्रा आदि पशु सामान्य धरातल से ऊंचा उठाती है । सहज भाषा का अर्थ है सहज ही महान बना देनेवाली भाषा । तपस्या, त्याग और आत्म बलिदान के द्वारा सीखी हुई भाषा सहज भाषा है । जिन लोगों ने जनता जनार्दन के लिए अपने आपको थोड़ा भी नहीं दिया वे जब सहज भाषा का उपदेश देने लगते हैं तो अवश्य ही वाग्देवी अपना सिर धुन लेती होंगी । जब मनुष्य सहज हो जायेगा तो वह संस्कारों से मुक्त होकर सोचने की अनाविल दृष्टि पा सकेगा । जिस प्रकार औषध रोगमुक्ति का साधन है वैसे ही भाषा भी मनुष्य को उसकी दुर्गति से बचाने का साधन है ।

'लोक साहित्य का अध्ययन'[34] निबंधानुसार लोक साहित्य और लोक संस्कृति जैसे शब्द बहुत हाल में प्रचलित हुए हैं । उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य भाग तक यूरोप में लोक साहित्य को पुरातत्व का अंग ही माना म जाता था । उसका आरंभ मानव विज्ञान के साधन के रूप में हुआ था । और उसी के साथ वह दीर्घकाल तक जुड़ा रहा । इस देश में लोक साहित्य केवल नागरिक जन की जटिल समाज व्यवस्था और बौद्धिक विवेचना का आवश्यक साधन ही नहीं माना जाता बल्कि समूचे मानव जाति के विकास और गतिविधि के अध्ययन का आवश्यक अंग माना जाने लगा । सुबंधु की वासवदत्ता और बाण की कादंबरी जैसे अत्यधिक अलंकृत साहित्य का वक्तव्य विषय गुणाढय की बृहत्कथा से ही लिया गया है । भारतीय साहित्य का अत्यन्त महत्वपूर्ण भाग लोक साहित्य पर आधारित था । लोक साहित्य परंपरा प्राप्त साहित्य है । उससे हमारे पुराने इतिहास की कड़ियां जुड़ती हैं । मनुष्य की मानस ग्रंथियों पर प्रकाश पड़ता है और सामाजिक विकास के स्तरों को समझने में मदद मिलती है । यूरोप के कुछ विचारकों ने लोक साहित्य को लिखित साहित्य न कहकर परंपरा प्रचलित साहित्य कहना पसन्द किया था । 'साहित्य में लोक प्रचलित काव्य रूपों का प्रवेश', निबंध में व्यक्त किया गया है कि

सबदी या `शब्द` गेय पद है । पुराने सिद्ध गेय पदों को किसी न किसी राग का नाम देकर ही लिखते थे । `बीजक` में केवल `शब्द` कहकर सन्तोष कर लिया गया है । आदि ग्रन्थ में बीजक के कुछ शब्द मिल जाते हैं, परन्तु अधिकांश शब्द उसमें नहीं हैं । यह स्पष्ट है कि `सबदी` शब्द का प्रचार बहुत पुराने काल से है । यह नाथपन्थी योगियों का शब्द है । `साखी` और `दोहरा` क्या है ? `साखी` शब्द गोरखपंथियों के साहित्य में भी मिलता है और कबीर पंथी साहित्य में भी । साखी साक्षात गुरु स्वरूप है । `प्राचीन और मध्यकालीन हिन्दी साहित्य का अनुशीलन`[35] निबंधानुसार नाभादास का भक्तमाल जो आज से कोई दो सौ वर्ष पहले बंगला में अनुवादित हुआ । बंगाल के गौड़ीय वैष्णवों ने भक्ति और भक्तों का जो सूक्ष्म विवेचन किया था उसने उत्तरभारत के उस रामभक्ति साहित्य को बहुत प्रभावित किया था । बंगाल के ब्रजबुलि का साहित्य ब्रजभाषा के साहित्य से ही नहीं असम, उड़ीया और मिथिला के साहित्य से अविच्छिन्न भावसे सम्बद्ध हैं। हिन्दी के अनुशीलन कार्य से अनेक प्रांतीय भाषाओं के इतिहास पर बहुत अच्छा प्रकाश पड़ेगा । `समीक्षा में संतुलन का प्रश्न`[36] निबंध संतुलित दृष्टिकोण एकांगी दृष्टियों की अतिवादिता से विनिर्मुक्त और इन सबमें पाई जानेवाली सचाई पर आधारित समग्र दृष्टि है । संतुलित दृष्टि सत्यान्वेषी की दृष्टि है । हमारे मन के अज्ञात कोने में जो हलचल होती रहती है जो हमारे प्रत्यक्ष जीवन के मूल्यों को नियंत्रित और निर्धारित करती रहती है उस पर तत्कालीन चिंतन प्रणाली का बड़ा जोर रहता है । इस युग में मनुष्य एक सामान्य सत्य को पकड़ने के लिए प्रयत्नशील है । `प्रगतिवादी साहित्य` मार्क्स के प्रचारित तत्वदर्शन पर आधारित है । प्रगतिवादी साहित्यिक समाज की किसी व्यवस्था को सनातन नहीं मानता, वह समाज को बदल देने में विश्वास करता है । इसीलिए इसके अनुसार साहित्य वर्गहीन समाज की स्थापना का एक साधन है । साहित्य को महान बनाने के मूल में साहित्यकार का महान संकल्प होता है । जीवन के प्रति दृष्टिकोण बदलने के साथ साहित्य की आलोचना की भी दृष्टि बदली है । `ततः किम्`[37] निबंधानुसार मर्त्यलोक को अद्भुत और अपूर्व शान्ति स्थल बनाने की क्षमता मनुष्य में है जिसको उनदिनों मानवतावादी कहा गया था ।

यह सिद्धान्त आधुनिक संस्कृति का मेरु दण्ड है । उन्नीसवीं शताब्दी के मानवतावादी विचारक बहुत आशावादी थे । आज मनुष्य के लिए सबसे बड़ी समस्या उसका बुद्धि वैभव है । उत्पादन के साधन निरन्तर शक्तिशाली होते जा रहे हैं और मनुष्य की सुविधा भोग की लालसाएं नित्यप्रति बढ़ती जा रही है । भौतिक समृद्धि के स्वप्न ने समूची मनुष्य जाति को महाविनाश के कगार पर ला पटका है । आज भी मनुष्य यश और मान की लिप्सा में उसी प्रकार भटक रहा है जिस प्रकार वह हजारों वर्ष पहले भटकता था । मनुष्य जिसे देवता कहता है जिसे अपना परम लक्ष्य मानता है वह क्या मनुष्य से परिदृष्ट जगत से भिन्न वस्तु है ? मनुष्य की जो अनन्त अतृप्त आकांक्षा है जो किसी पर मोहन को तृप्त करने के लिए सदा व्याकुल रहती है वह राधिका के रूप में अभिव्यक्त हुई है । 'समालोचक की डाक'[३८] शीर्षक निबंध में शांति निकेतन का डाकिया है जो रोज नये-नये समाचार लाकर के समालोचक को देता है । लाल और नीले रेशमी फीतों से बंधे हुए पैकेट में किसी युवक कवि की प्रेमकथा का चित्रण है । उसकी कल्पना जगत की प्रेयसी निश्चय ही अपटुडेट फैशन की परिपाटीविहीन सज्जा से सज्जित होगी । उसका वर्णन किया गया है । इन्हीं पैकेटों की पहली पुस्तक का नाम है अंजली की 'मधूलिका', दूसरी गिरीश जी का 'मन्दार' । ये दोनों ही प्रेमकाव्य है । दोनों काल्पनिक हैं । एक और पुस्तक थी जो अब तक अनालोचित थी । एक बंगाली कवि को कवि की मस्ती इतनी अच्छी लगी कि वे अर्थशास्त्र का नोट लिखना छोड़कर काव्य चर्चा में निमग्न हो गये। इस पुस्तक का नाम था 'प्रेमसंगीत' श्री भगवतीचरण वर्मा ने इसे लिखा था । समालोचक जीवन किसको कहता है ? यह बताया गया है ।

मनुष्य की सर्वोत्तम कृति : साहित्य'[३६] में कहा गया है कि सभी मनुष्य किसी न किसी परिमाण में एक शक्ति को लेकर पैदा हुए हैं । सामंजस्य का अर्थ होता है सुन्दरता । सुन्दरता सामंजस्य में होती है । सभी चित्रकारों के पास काले, नीले, लाल आदि अनेक रंग रहते हैं केवल उत्तम शिल्पी ही जानता है कि किसका किस स्थान

पर उपयोग करने से चित्र सुन्दर ड लगेगा । इसी प्रकार यह संसार भी एक महत्वपूर्ण विशाल कलाकृति है । सारे समाज को सुन्दर बनाने की साधना का नाम ही साहित्य है । जाति का यह सौन्दर्य प्रेम उसके साहित्य में उसकी कला में और उसके दान-पुण्य में व्याप्त रहता है । साहित्य और कला में जो प्रेम है वही उत्तम है । असल में किसी जाति के उत्कर्ष और अपकर्ष का पता उसके साहित्य से ही लगता है । `महिलाओं की लिखी कहानियां`[40] निबंध में महिलाओं के द्वारा लिखी गई कहानियों की आलोचना की गई है । कहते हैं स्त्री से ही मनुष्य जाति अस्तित्व में आई और वह प्रकृति के नियमों से मजबूर थी । पुरुष की तरह वह उच्छृंखल शिकारी की भांति नहीं रह सकती थी । पुरुष का सब कुछ प्रकट था जबकि स्त्री का सब कुछ रहस्यवृत्त था । कहा गया है कि दुनिया का अंतिम शास्त्र मनोविज्ञान होगा और शास्त्र की अंतिम समस्या स्त्री होगी । स्त्रियों ने वैयक्तिक रूप से स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए संघर्ष खेले । इसी व्यक्तित्ववाद में स्त्री लेखिकाओं का सर्वाधिक जबरदस्त सुर था । श्रीमती शिवरानी देवी ने `कौमुदी` लिखी, सुभद्रा देवी ने `बिखरे मोती` पुस्तक लिखी । अधिकतर लेखिकाओं की सहानुभूति सदा बधुओं की ओर रहती है। वह पति-पत्नी में पत्नी की ओर, सास-बहू में बहू की ओर । सुभद्रादेवी जी की कहानियों में समाज व्यवस्था के प्रति एक नकारात्मक घृणा ही व्यक्त होती है । आदर्शगत सामंजस्य का उत्तम उदाहरण शिवरानी जी की `कौमुदी` की कई कहानियों में मिलता है । वह अपने लिए दूसरा रास्ता खोज निकालती हैं । अगर उसका प्रेम नकारात्मक होता, क्रोध के स्थान पर भय का प्रादुर्भाव होता, आश्चर्य की जगह सन्देह का उदय होता तो शायद आत्मघात कर लेती । `समस्याओं का सबसे बड़ा हल`[41] शीर्षक निबंध में मनुष्य सिर्फ जीविका निर्वाह करने के लिए नहीं है मगर एकान्त जीविका का अतिक्रम करके आगे बढ़े तभी उसकी सभ्यता है । शिक्षा की तौल सिर्फ संख्या से नहीं हो सकती । वह तो अपनी पूर्ण सम्पूर्णता से, अपनी प्रबलता से तौली जा सकती है । मध्य एशिया की अर्ध सभ्य जातियों में भी शिक्षा का विस्तार बाढ़ की तरह बढ़ रहा है । पहले भारतवर्ष रूस के समान था फिर भी हम जड़ता के

कीचड़ में डूबे हुए हैं । साधारण मजदूर भी शिक्षा और ज्ञान में भारतवर्ष में औसत शिक्षित व्यक्ति से अधिक योग्य है । सभ्य शासन की परिचालना से भारतवर्ष में जो दुर्गती आज उग्रता के साथ सिर उठाकर खड़ी हुई है वह भारतवासी के भीतर अत्यन्त नृशंस आत्म विच्छेदन अलगाव की भावना है । 'हम क्या करें', हिन्दी साध्य या साधन ?[42] निबंध में हिन्दी भाषा और साहित्य हमारा साध्य ही नहीं साधन भी है यह बताया गया है । हमारी वर्तमान परिस्थिति में हममें से अधिकांश के लिए साधन अधिक है, साध्य कम । आगे हम हिन्दी का संस्कृत और अन्य भाषाओं से सम्बंध बता चुके हैं । 'साहित्य का नया कदम'[43] निबंधानुसार पुरानी बातें किसी ऐसे [illegible] स्वप्न लोक की बात है जो केवल अभिभूत कराता है, आंखों पर एक नशे का आवरण डाल देता है । और चित्त को इस प्रकार मत्त बना देता है कि आदमी जीवन की वास्तविकताओं के प्रति बेखबर बन जाता है । छापे की मशीन का आविष्कार यद्यपि पन्द्रहवीं शताब्दी में ही हो गया था तथापि साहित्यकार का अपना संपूर्ण प्रभाव तब तक विस्तरित नहीं हुआ जब तक भाषा की मशीनें और तार का संयोग उससे नहीं हुआ । रैल और जहाज ने एक स्थान से दूसरे स्थान पर कागज आदि उपकरण पहुंचाना शुरू किया । इस प्रकार नये साहित्य का जन्म हुआ जिसे पत्रकार कला कहा जाने लगा है । छापे की मशीन के आविष्कार के साथ ही साथ समाज की ओर से इस प्रकार का प्रतिबंध लगा दियाजाता है कि केवल अर्वाचीन और प्राचीन पुस्तकें ही लाखों की संख्या में छापी जाएगी तो क्या अवस्था होगी यह नहीं कहा जा सकता । साहित्य में असंयत रचनाओं का बहुत अधिक प्रचार हुआ है । प्रत्येक प्रवाह ने नवीन प्रचार को जन्म दिया है । प्रतिमा नाम की एक शाश्वत वस्तु है । साहित्य का इतिहास ग्रंथों और ग्रन्थकारों के उद्भव और विलय की कहानी नहीं है । वह कलास्रोत में बहे आते हुए जीवन्त समाज की विकास कथा है । व्यक्ति का आपसी सम्बंध उसके समाज रूप में जीवित रहने का ही द्योतक है । संस्कृत साहित्य में पक्षी वर्णन[44] शीर्षक निबंध में बताया गया है कि संस्कृत साहित्य में पक्षियों की इतनी अधिक चर्चा है कि अन्य किसी साहित्य में इतनी चर्चा शायद ही है । महाभारत के अनुसार मनुष्य और पक्षियों का सम्बंध दो तरह का है । तीसरा सम्बंध इन

दोनों में नहीं है । साधारणत: संस्कृत कवियों का वर्णनीय अन्त:पुर धनी और राजवंशीय पुरुषों का ही होता था । बाणभट्ट की कादम्बरी में अन्त:पुर के भीतर का बड़ा ही रसमय और जीवन्त वर्णन है । `अपभ्रंश का रसात्मक साहित्य` निबंध में पिशेल ने अन्य प्राकृतों के साथ अपभ्रंश का विवेचन किया था । भामह और दण्डी के समय में अपभ्रंश का साहित्य वर्तमान था, बाद के रुद्रट,राजशेखर, भोज आदि अलंकार शास्त्रीयों ने अपभ्रंश भाषा की चर्चा की है । पिशेल अपभ्रंश के पाणिनि कहे जाते हैं । संदेशरासक, ब्रजस्वामि चरित, परमात्म प्रकाश, आराधना आदि ग्रन्थ इसी समय मिले । श्री दलाल ने `भविसयतकहा` सम्पादन आरंभ किया । अभी तक जिस साहित्य की चर्चा की गई है वह जैन स्त्रोतों से प्राप्त हुआ साहित्य है । इस प्रकार ईसवी की बीसवीं शताब्दी के बाद अपभ्रंश का काफी समृद्ध साहित्य उपलब्ध हुआ । इसके अतिरिक्त मुक्त पुराण साहित्य में उत्तम कवित्व बिखरा हुआ है । महाभारत और रामायण की ज्वलन्त मानवीय भावनाएं परवर्ती पुराणों में एकदम ठंडी पड़ जाती है । अपभ्रंश के पुराण - साहित्य में भी आरंभ में जो उदात्त मानव चरित्र आए हैं वे क्रमश: प्रभाहीन वैचित्र्यहीन होकर काव्य रूढ़ियों के शिकार हो गए हैं । `भाषा सर्वेक्षण`[४५] निबंधानुसार आधुनिक युग में हमारे देश में भाषा सर्वेक्षण का कार्य उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण से हुआ है । ग्रियर्सन ने भाषा सर्वेक्षण पर यह आरोप लगाया था कि उसमें तत्कालीन भारत सरकार की साम्राज्यवादी नीति काम कर रही थी । यूरोपियन विद्वानों में एक मान्यता रही है कि बोली विभिन्न क्षेत्र की घरेलु भाषा है । भाषा का अध्ययन पांच दृष्टियों से किया जाता है - ध्वनि, रूप, शब्द, वाक्य और अर्थ ।` घरजोड़ने की माया`[४६] निबंध में कबीर साहित्य का उल्लेख हुआ है । कबीरदास जी के परवर्ती साहित्य में कबीर के धर्म सिद्धान्तों का वर्णन है । कबीर ने अपने साहित्य की सीधीसादी भाषा अपनाई थी । अनेक महान धर्म गुरुओं के आन्दोलन हुए थे । बुद्धदेव ने ईश्वर के विषय में कोई बात तक कहना पसन्द नहीं किया । कबीर ने अवतारों और पैगम्बरों की पूजा की कड़े शब्दों में निन्दा की । सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा ही सब से बड़ा लक्ष्य बन गई है । मठ बनें, मन्दिर बनें, प्रचार के साधन आविष्कार किए गए और उनकी महिमा

बनाने के लिए अनेक पोथियां रची गईं । `सावधानी की आवश्यकता`[४७] निबंध में कहा गया है कि आज हमें ऐसे साहित्य की आवश्यकता है जो हमारे युवकों में मनुष्यता के बलि होने की उमंग पैदा करे । बीसवीं शताब्दी प्राणी विज्ञान और मनोविज्ञान का युग कहा जाता है । युद्धों और राजनीतिक कचकचाहटों ने इस युग के साहित्यकार को निराशावादी और मनोविश्लेषक बना दिया है । `पुरानी पोथियां`[४८] निबंध में अधिकांश पोथियां भोजपत्र और `ताड़ के पत्तों पर लिखी पाई गई हैं । सोने,चांदी, तांबे के पतरों पर भी अमीर लोग पुस्तकें ~~लिख-पर~~ लिखवाते थे । अब तक संस्कृत की सबसे पुरानी पोथियां जो मिल सकी हैं उनमें सर्वाधिक प्राचीन पुस्तक एक तालपत्र पर लिखी हुई है । इसके बाद `संयुक्तागम` नामक बौद्ध सूत्र भोजपत्र पर लिखा हुआ पाया गया है । सन् ईसवी की पांचवीं शताब्दी की पोथियां ऐसी भी मिली है जो कागज पर लिखी गई है । जैसे जैसे भारतवर्ष में कागज उत्पन्न हुआ वैसे-वैसे पुरानी पोथियों के संग्रह करने और पढ़ने की प्रवृत्ति बढ़ती गई । `साहित्यकारों का दायित्व`[४९] शीर्षक निबंध में कहा गया है कि साहित्य का अंग केवल विलास का साधन नहीं होना चाहिए वरन् उसे मनुष्य का उन्नायक होना चाहिये । केवल पदार्थ विद्या, रसायन शास्त्र और प्राणितत्व के क्षेत्र में ही संयोग और दैव ने मनुष्य की सहायता नहीं की है । गणित और ज्योतिष के क्षेत्र में भी उसने सहायता पहुंचायी है । मनुष्य का इतिहास ही सद्वृत्तियों के विजय का इतिहास है । साहित्य के नाम के अन्तर्गत मनुष्य जो कुछ भी सोच सकता है उस सबका प्रयोग इस देश में सफलतापूर्वक हो चुका है । भारत के हजारों गांवों और शहरों में फैली हुई सैकड़ों जातियां ही हमारे समस्त वक्तव्यों का लक्ष्यीभूत श्रोता है, उसका कल्याण ही साध्य है । साहित्य के उपासक अपने पैर के नीचे मिट्टी की उपेक्षा नहीं कर सकते । हम सारे बाह्य जगत को असुन्दर छोड़कर सौन्दर्य की सृष्टि नहीं कर सकते । `हिन्दी में शोध का प्रश्न`[५०] निबंध में शोध शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थों में होता है । जर्मनी शोधप्रेमी विद्यार्थियों का तीर्थक्षेत्र है । वस्तुत: शोध या रिसर्च भी आधुनिकता की देन है । पुराने जमाने में पंडित और शास्त्र निष्णात बनने की जो धुन थी वह आधुनिक युग के रिसर्च या शोध की इच्छा से थोड़ी भिन्न थी । शोध प्रतिष्ठानों ने समसामयिक विचारकों भी सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया है । `अभी थकने का समय नहीं आया`[५१] इस निबंध में

कहा गया है कि शिक्षण व्यवस्था को आदर्श प्रवण बनाकर शिक्षित को मनुष्योचित धर्मों के प्रति निष्ठावान बनाना बहुत आवश्यक है। पंचवर्षीय योजना के द्वारा इस देश को सुखी और समृद्ध बनाने का प्रयत्न जारी है। हमारी साहित्य शिक्षा का मूलमंत्र सच्चा गुरु है। 'संस्कृत का साहित्य'[५२] शीर्षक निबंध के अंतर्गत संस्कृत साहित्य पर विचार प्रदर्शित है। आज के भारतीय धर्म, समाज, आचार-विचार, क्रियाकाण्ड आदि में सर्वत्र गुप्तकालीन साहित्य की अमिट छाप है। जो पुराण और स्मृतियां निस्संदिग्ध रूप से आज प्रमाण मानी जाती हैं वे अंतिम तौर पर गुप्तकाल में ही सम्पादित हुई थी। संक्षेप तथा संस्कृत साहित्य को सरासरी निगाह से देखने पर हजारों वर्षों से निरन्तर प्रवहमान मानव चिन्तन का विराट स्रोत प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। अपने देश की प्राकृत पालि आदि भाषाओं में जो कुछ श्रेष्ठ और रक्षणीय था उसे उसने (संस्कृत) बड़ी निष्ठा के साथ अपने भण्डार में सुरक्षित किया। 'तांत्रिक वांगमय में शाक्त दृष्टि'[५३] निबंध में कहा है कि- भारतवर्ष का तन्त्र साहित्य बहुत विशाल था। शैव, शाक्त, जैन, बौद्ध आदि सम्प्रदायों में तंत्र का विशाल साहित्य उपलब्ध होता है। तांत्रिक साहित्य में जो शाक्त दृष्टि है यह शक्ति शिव से अभिन्न होने पर भी विश्व साहित्य का मूलभूत है। शाक्त दृष्टि का एक वैशिष्ट्य यह है कि इसमें परम प्रकाश का निष्क्रीयत्व स्वीकार नहीं किया जाता। साधना द्वारा, धार्मिक आचरण द्वारा, गुरु की कृपा से भगवान का अनुग्रह प्राप्त होने पर ही विवेक ज्ञान होता है और मनुष्य अपने आपको पहचान पाता है। परम सत्य की अनुभूति और अनुभूति का रसास्वादन ही मनुष्य के जीवन को चरितार्थ करता है। 'रूप और सौन्दर्य के अमर्मज्ञ गायक कालिदास'[५४] निबंध में कालिदास रूप सौन्दर्य के कवि हैं ऐसा बताया गया है। उन्होंने वसन्त पुरुषों अशोक, कर्णिकार, सिन्दुवार को भी 'आभरण' कहा है और अन्य आभूषणों को भी। ऋतु संहार में एक जगह माल्य आभिरण और अनुलेपन शब्दों का प्रयोग हुआ है। अनेक प्रकार मे मण्डन द्रव्य से रूप को निखार देनेवाली स्त्री प्रसाधिकाओं की चर्चा आती है। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में सुन्दरियों के भावरसाश्रय अलंकरणों की चर्चा की है। कालिदास की दृष्टि मुख्यत: इन्हीं सहज गुणों की ओर गई है। शास्त्रों के अनुसार समस्त अवस्थाओं में चेष्टाओं की रमणीयता

ही माधुर्य है । जिस रूप में यह गुण होता है वह `मधुर` कहा जाता है । शकुन्तला की आकृति ऐसी ही थी । शोभा और सौन्दर्य के वर्णन में नवयौवन के विभेदक धर्म को कालिदास ने विशेष रूप से मान दिया है । कालिदास ने युवावस्था के मनोहर रूप के दो पक्षों पर अधिक बल दिया है । `भारतीय साहित्य की प्राण शक्ति`[५५] निबंध के अनुसार कर्मफल का सिद्धान्त सारे संसार की अपेक्षा भारतवर्ष के साहित्य की निश्चित विशेषता है । इस सिद्धान्त का जितना व्यापक और जबरदस्त प्रभाव हिन्दू संस्कृति, हिन्दू साहित्य और हिन्दू जीवन पर पड़ा है उतना किसी भी और दार्शनिक सिद्धान्त का किसी भी और जाति पर पड़ा है या नहीं यह नहीं मालूम । पंडित स्वीकारते हैं कि जब तक ज्ञान नहीं हो जाता तब तक यह आत्मा जन्मकर्म के बंधन से मुक्त नहीं हो पाता । गीता में भगवान ने कहा है कि जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्र को छोड़कर नया धारण करता है उसी प्रकार आत्मा जीर्ण शरीर को परित्याग कर नवीन शरीर धारण करता है । शास्त्रकारों ने कर्म के तीन प्रकार बताये हैं । हिन्दू विश्वास के अनुसार मनुष्य पैदा होते ही तीन प्रकार के ऋणों को अपने साथ लेकर उत्पन्न होता है । देवऋण, ऋषिऋण, और पितृऋण । महाभारत में भी इन ऋणों की चर्चा है । इन्हें चुकाये बिना मनुष्य के समस्त कार्य अधूरे हैं । मानव जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति है । `मानव सत्य`[५६] शीर्षक निबंध में छान्दोग्य उपनिषाद के प्रथम अध्याय के आठवें और नवें खण्डों में दी हुई कथा का विवरण हुआ है । मनुष्य लोक की भी कोई गति होनी चाहिए। वस्तुत: इसका भी आश्रय आकाश है । भूतमात्र आकाश में ही उत्पन्न होते हैं । आकाश में ही विलीन होते हैं । आकाश ही परम आश्रय है । यह विचार आज से कई हजार वर्ष पहले हुआ था , तब से दुनिया के ज्ञान साधनों में बहुत परिवर्तन हुआ है । काव्य क्या है ? काव्य में एक बड़ा भारी गुण साधारणीकरण का होता है बड़े- बड़े आचार्यों के अनुसार काव्य पाठक की चेतना का आवरण हटा देता है । और वह अपने ही अनुभूत भावों का र आस्वादन कराता है । काव्यालोचन क्षेत्र में यहाँ दार्शनिकों का प्रवेश हुआ था ।महिम भट्ट नैयायिक थे जिन्होंने काव्य के रस बोध को अनुमान का विषय

सिद्ध करना चाहा है । मनुष्य की आन्तरिक अनुभूति से जो बातें जानी जाती है वह और होती है और तर्क से जो बातें जानी जाती है वह और होती है । मानव-चेतना क्या है ? निबंध में मानव चेतना के एक किनारे भाव और दूसरे किनारे तथ्य है । श्रीमती महादेवी वर्मा आधुनिक विषयप्रधान कविताओं का विश्लेषण करती हुई बताती हैं कि मनुष्य मनुष्य के बीच जो रागात्मक सम्बंध है उनमें जब तक `अनुराग-जन्य' आत्मविसर्जन का भाव नहीं घुल जाता तब तक वे सरस नहीं हो पाते ।

धार्मिक : द्विवेदी जी ने धर्म विषयक निबंध भी लिखे हैं । `धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायाम`[57] शीर्षक निबंध में बताया गया है कि भारतीय धर्म साधना का इतिहास बहुत जटिल है । साधारणत: इस धर्ममत का अध्ययन करने के लिए वैदिक, बौद्ध और जैन साहित्य का अध्ययन किया जाता है । पिछले कई वर्षों में सभी आर्येतर विश्वासों को द्रविड़ विश्वास कह देने की प्रवृत्ति बढ़ गई है । शिव और विष्णु की पूजा जो आर्य लोग करते थे यह भी द्राविड़ संस्कृति में से चली आई प्रणाली है । इस देश में अनेक आर्यपूर्व जातियां थी। उनकी अपनी भाषाएं थी- और अपने विश्वास थे । कुछ पंडितों के अनुसार विश्वव्यापी जल प्रलय के पूर्व की ही ये घटनाएं होंगी । विक्रम की सातवीं आठवीं शताब्दी के बाद हिन्दू आचार्यों में एक ही विशिष्ट प्रवृत्ति पायी जाती है । हमारा वैदिक, बौद्ध और जैन साहित्य बहुत विशाल है । धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायाम` यह अर्थ ऐतिहासिक अर्थ में सत्य है । केवल धर्म ग्रन्थों का अध्ययन ही नहीं और भी पारिपार्श्विक परिस्थितियों का ज्ञान होना चाहिये । इसके साथ पुरात्व, भाषा विज्ञान, नृतत्वविज्ञान और इतिहास की अविच्छिन्न धारा का ज्ञान भी आवश्यक है । `ठाकुर की बटोर`[58] शीर्षक निबंध में द्विवेदी जी ने भारत वर्ष की धर्म भावना को प्रत्यक्ष करना चाहा है। जो तीन हजार वर्षों से नर-नारियों को शांति प्रदान कर रही है और जिसने आर्येतर जातियों को मनुष्यता का पाठ पढ़ाया है । जिस तरह मंदिर में देवता की मूर्ति की प्रतिष्ठा की जाती है वैसे ही भारतीय संस्कृति रूपी मंदिर में प्रतिष्ठापित देवतामूर्ति ने कितनी ही आर्येतर जातियों को आश्रय

दिया। पश्चिम में एक स्वत: सम्बुद्ध धर्मभावना का अवतार हुआ, जिसके एक हाथ में कठोर आश्वासन कृपाण थी और दूसरे में समानता के आश्वासन का अमृत वरदान। वह इस्लाम था। इस्लाम धर्म ने पश्चिम से महावीर देवता को उखाड़ फेंक दिया। और अरब से लेकर गांधारतक फैल गया। आज गांधार मुसलमान हो गया है। पाणिनी और यास्क की संतान आज भारतवर्ष में हींग बेचती फिरती है। इस्लाम का यह भयंकर पराजय का उदाहरण है। इस्लाम अपने शांत, गंभीर स्वर में कहता है कि-'तुम ठीक कहते हो- तुम्हारे लगाये हुए अभियोग की मुझे बिलकुल परवाह नहीं है। मैं संस्कृति को फैलाने नहीं मैं कुफ्र तोड़ने आया हूं। जहां हजारों को दास बनाकर, लाखों को दलित और अस्पृश्य बनाकर जिस संस्कृति का जन्म होता है, वहां कुफ्र का प्राबल्य होता है - मैं उसे साफ करने आया हूं। इस असम् व्यवस्था के साथ मेरा समझौता नहीं हो सकता, जिस सैकडों व कच्चे पक्के रंग के बेमेल पट को तुम कला का श्रेष्ठ निदर्शन मानते हो। उसे मैं भद्दे दागों का एक हास्यास्पद प्रदर्शन समझता हूं। मैं धरती को एक पक्के रंग में रंगी देखना चाहता हूं। भले ही वह रंग नीला हो, आज इस्लाम की ध्वजा से धरती कांप रही है, क्योंकि उसमें भीरुता है, उसमें भेदभाव है, उसमें भ्रांति है और त्रुटि है। इस्लाम का विजयतूर्य इस भीरुता, इस भेदभाव और भ्रांतित्रुटि को दूर करके ही चुप होगा। समझौता करना भ डरपोकों का काम है। इस्लाम डरपोक नहीं हैं, वह मरना भी जानता है और मारना भी जानता है। संस्कृति के विनाश की आशंका से पद पद पर सन्त्रस्त बुद्धिमान कहे जानेवाले लोग कायर हैं। [५६]

मध्ययुगीन भारतीय संस्कृति का तेज म्लान हो गया था, उसका गर्व खंडित हो गया था। इसी समय दक्षिण से इस कुचड़ी हुई संस्कृति लता को वैष्णव धर्म का सहारा मिला। इसी वैष्णव धर्म ने सिर्फ आश्रय ही नहीं दिया, रस की धारासार वर्षा ने उसे लहलहा दिया। इस भारतीय संस्कृति में मध्ययुगीन संस्कृति और विभिन्न संस्कृतियों का समावेश हुआ। आगे चलकर ठाकुर जी की पूजा की चर्चा की गई है।

पण्डित जी के मतानुसार ठाकुर जी उसी जाति के होकर पूजा ग्रहण करते हैं जिस जाति में पुजारी का जन्म हुआ रहता है । बाद में महात्मा गांधी की मूर्ति का चित्रण हुआ है। चाण्डाल और महात्मा के उदाहरण से भगवान और भक्त का सम्बन्ध बताया गया है। भगवान अपने भक्त को नारायण का रूप समझता है । मनुष्य ने भी अपने जीवन में इसी जातिभेद के अलगाव से दूर रहकर अपना एकत्व स्थापित किया होता तो आज हमारी भारतीय संस्कृति का रंग ही बदल जाता । यह मामूली सी ठाकुरबारी की सभा हिन्दू समाज के जीवन की शक्ति का सबूत है ।

'शाक्त मार्ग का लक्ष्य अद्वैत'[60] निबंध में कुछ धार्मिक विचार व्यक्त किये गये हैं । आगमों से इस सिद्धान्त पर भी बड़ा भरोसा है कि परम शिव, जो साक्षात् चित स्वरूप है, उनकी अभिन्न संविद्रूपा महाशक्ति ने कण-कण को अपनी लीला से सिक्त कर रखा है । क्षण-क्षण को उद्भासित कर रखा है । तंत्र शब्द बहुत व्यापक अर्थों में प्रयुक्त होता रहा है । कभी-कभी हर प्रकार के आगम को तंत्र कहने की प्रवृत्ति भी देखी जाती है । आगम तीन श्रेणी के हैं - वैष्णव, शिव और शाक्त । परमशिव की पांच शक्तियां- चित्, आनन्द, ज्ञान, इच्छा और क्रिया है । बहुत प्राचीन-काल से ही 'तंत्र' शब्द का प्रयोग शाक्त आगमों के साथ होता रहा है । कुछ विद्वानों ने दर्शन, धर्म और कला की मूलप्रवृत्ति को खोजने का प्रयास किया है । भारत धर्म की पहली विशेषता यह है कि यह जगत केवल अस्तव्यस्त और अव्यवस्थित रूप नहीं है बल्कि एक निश्चित व्यवस्था में बंधा हुआ है । धर्म वही नियामक सम्बंध है जिसके कारण विश्व स्थित है । नैतिकता मनुष्य का वास्तविक स्वभाव है जो जैसा करता है उसको वैसा ही फल मिलता है । यह एक सर्वग्राह्य सिद्धान्त है । धर्ममय सभ्यता व्यष्टि और समष्टि का हित करती हुई सबकी आध्यात्मिक उन्नति करती है । शिव प्रकाश है, शक्ति विमर्श है । मनुष्य अपने कानों से जो शब्द सुनता है वह स्थूल है । इच्छा ही नाद है । मध्यकाल के आगमों और निर्गुणमार्गी साहित्य में मध्यवर्ती अवस्थाओं की

कल्पना की गई है । मन के योग से ही मन्त्र बनता है । मन्त्र तब जाकर सफल होता है जब उससे अपने ही भीतर विद्यमान विशुद्ध चैतन्य को साधक पा जाता है । ओंकार या प्रणव क्या है? प्रणव या ओंकार सूक्ष्मभेद है अर्थात् ज्ञान ही है । ज्ञान और बुद्धि दोनों धर्म के स्वरूप हैं, अज्ञान ही ज्ञान है और अधर्म ही धर्म है इसका मतलब यह कि ब्रह्म और ब्रह्म शक्ति में कोई भेद नहीं है। जो कुछ ब्रह्माण्ड में है वह सब पिण्ड में उपलब्ध है । मन्त्र शक्ति, जप और ध्यान के सहारे अन्त: स्थित संविद्रुपा भगवती को प्राप्त किया जा सकता है । भारतीय धर्म साधना के रहस्यों को समझने के लिए तंत्र साहित्य्य के मूल सिद्धान्तों की जानकारी आवश्यक है । 'सूफी साधना' शीर्षक निबंध में सूफी मत की साधना और साहित्य के मूल रूप को समझने के लिए इस्लाम धर्म के साथ उसके सम्बंध को स्पष्ट किया गया है ।

मानसिक स्तर पर यथार्थता जिस रूप में दिखाई देती है । वह बौद्धिक स्तर पर बिलकुल बदल जाती है । भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है योगशास्त्र में जिन साधनाओं के निरन्तर अभ्यास से मनुष्य में विवेक और वैराग्य उदित होते हैं वह अपने शुद्ध रूप को जान लेता है जो इंद्रिय, मन और बुद्धि से भिन्न प्रकृति का है । नित्य चेतन है और निर्विकार है । इसी निर्विकार केवल रूप को पहचाननेवाला, 'कैवल्य' पद को प्राप्त होता है । यह ज्ञानमार्ग की साधना है । 'सूफी संतों का आगमन'[६१] निबंध में आरंभ में सूफी साधकों ने वैराग्य भावना और तपोमय जीवन की ओर अधिक ध्यानदिया है । वे ध्यान, सुमिरन और नामजाप के द्वारा अपने अहं को भूलने का प्रयत्न करते थे । परन्तु धीरे-धीरे उनमें प्रेमाभक्ति की ओर झुकाव अधिक होता गया । यह जो मनुष्य के भीतर विरह की व्याकुलता और मिलन की आतुरता है वही उसका वास्तविक सत्य है । वैष्णव भक्तों के पारिभाषिक शब्दों में कहें तो भगवान भाव का भूखा होता है । सूफियों का विश्वास है कि- परमात्मा प्रेमस्वरूप है और वह उन मनुष्यों को इसका रहस्य नहीं बतलाता जो इस प्रेम पाने के अधिकारी नहीं ।

जो भगवान से प्रेम करते हैं उनसे भगवान भी प्रेम करते हैं। सूफी साधकों ने अनन्तर के प्रेम पर आश्रित भाव जगत की साधना को अपनाया है। सूफी साधना नानारूपों में भारतीय साधना से सम्बद्ध है। 'बीजक की दो व्याख्याएं'[६२] निबंधानुसार बीजक कबीरदास के सभी संप्रदायों में मान्य है। इनमें दो टीकाएं बहुत प्रसिद्ध हैं। बीजक की टीका के के आरंभ में टीकाकार ने बीजक का तात्पर्य निर्णय किया है। रामनाम के जपने से और श्री रामचन्द्र जी को जानने से ही मन-बचन से परे श्री रामचन्द्र, रूपफल की प्राप्ति होती है। उदाहरण के लिये बीजक को कोई निराकार ब्रह्म में लगाते हैं, कोई जीवात्मा में और कोई नये नये स्वामिन्द बनाके अर्थ लगाते हैं। यहां बाल्मीकि रामायण का प्रमाण है कि 'सूर्यस्यापि भवेत् सूर्योह्वरोग्नि:प्रभो: प्रभु:।' अर्थात् जो लोग कर्म की प्रेरणा कराता है उसे सूर्य अर्थात् अन्तर्यामी कहते हैं। जो सबसे आगे रहे वह अग्नि कहाता है अर्थात् ब्रह्म। सो रामचन्द्र को अन्तर्यामियों का अन्तर्यामी और ब्रह्म का भी ब्रह्म कहा गया। बीजक भर में रामनाम का ही सिद्धान्त दिया गया है।

'मधुरस की साधना:'[६३] निबंध में कहा गया है कि भक्ति रस के अलग-अलग भाव हैं। एक ही स्थायी भाव है, श्रीकृष्ण विषयक रति या लगन। भक्ति रसामृत सिन्धु में गोप रमणियों का प्रेम ही काम कहा गया है। शास्त्रानुसार आत्मा के साथ सूक्ष्म या लिंग शरीर भी एक दूसरे में संक्रामित होता है। इस सूक्ष्म शरीर में ही पाप पुण्य आदि के संस्कार रहते हैं। आत्मा जिस रस का अनुभव करता है वही सर्वश्रेष्ठ भक्तिरस है। श्री चैतन्य महाप्रभु के अनुसार इन्द्रिय, मन और बुद्धि का संपूर्ण निग्रह और वशीकरण जब तक न हो जाय तब तक इस सुकुमार, भक्ति क्षेत्र में आने का अधिकार मनुष्य को नहीं मिलता। 'शवसाधना'[६४] निबंधानुसार जड तत्वों का सर्वाधिक सामंजस्यपूर्ण संघात मनुष्य का शरीर है। जब तक उसमें जीवात्मा का संयोग वर्तमान रहता है तब तक वह विशुद्ध जड़ तत्व नहीं कहा जा सकता। साधक जब शिवानन्द और

परमानन्द की अवस्था में होता है तब वह इसी प्रकार इच्छा द्वेष, रागविराग, धर्म-अधर्म से परे एक अनुभवगम्य अवस्था में होता है । युद्ध में लडते-लडते जो मरा, उल्लास के साथ जिसने प्राण खोए हैं उसी को शवसाधना में ग्रहणीय माना गया है । 'हिंदी का भक्ति साहित्य'[६५] निबंध में भक्तिकाल या साहित्य का इतिहास चित्रित है । दक्षिण से भक्ति का आगमन हुआ जो बिजली की चमक के समान विशाल देश के इस कोने से उस कोने तक फैल गई । यही वे दो धाराएँ हैं जिन्हें निर्गुणधारा और सगुणधारा नाम दे दिया गया है । सगुण उपासना ने पौराणिक अवतारों को केन्द्र बनाया और निर्गुण उपासना ने योगियों अर्थात् नाथपंथी साधकों के निर्गुण पर ब्रह्म को । सगुण भावों के भक्तों की महिमा उनके असीम धैर्य और अध्यवसाय में है । पर निर्गुण श्रेणी के भक्तों कीमहिमा उनके उत्कृष्ट साहस में है । एक ने सब कुछ को स्वीकार करने का अद्भुत धैर्य दिखाया । दूसरी ने सब कुछ को छोड़ देने का असीम साहस । कम से कम हिन्दीभक्ति साहित्य को काव्य के नियमों और प्रभावों से अलग करके नहीं देखा जा सकता । अलंकार शास्त्र में देवाधि विषयक रति को भाव कहते हैं । तात्पर्य था कि पुरुष का स्त्री के प्रति और स्त्री का पुरुष के प्रति जो प्रेम होता है उसमें एक स्थायीत्व होता है ।भगवद विषयक प्रेम में निर्वेद भाव की प्रधानता रहती है अर्थात् उसमें जगत के प्रति उदासीन होने की वृत्ति ही प्रबल होती है । परम प्रेम प्राप्त होने पर भक्ति शास्त्रीयों का दावा है कि अन्यान्य जडोन्मुख प्रेम शिथिल और अकृत कार्य हो जाते हैं । इन दो धाराओं का अद्भुत मिलन ही निर्गुण धारा का वह साहित्य है जिसमें एक तरफ कभी न झुकनेवाला अक्खड़पन है । दूसरी तरफ फक्कडपन -यह साहित्य अपने आप में स्वतंत्र नहीं है ।

'~~वैष्णव~~ वैष्णव कवियों की रुपोपासना'[६६] में भक्ति पद्धति का वर्णन है । सूरदास और तुलसीदास पहली श्रेणी में आते हैं । देव, बिहारी और मतिराम दूसरी में। यूरोप में चौदहवीं शताब्दी में ही मानव चित्त स्वर्ग से हटकर मर्त्य की ओर अग्रसर हो गया था । मर्त्य की ओर आकर भी वह एक बार विस्मृत परलोक की ओर धावित

हुआ । कृष्ण के अलग अलग रूप-सूरदास का रूपातीत को `मोहन` कहना कवि के लिए `न्याय` बताते हैं । यह रूप अन्य रूपों की भांति आगे बढ़ने का मार्ग नहीं दिखाता । यहां आकर सारी गति रुद्ध हो जाती है- सारी वृत्तियां मुग्ध हो जाती हैं । सारी चेष्टाएं व्यर्थता के रूप में सार्थक हो जाती है । यह रूप `मोहन` है । मोहनवाला` अर्थात् जहां जाकर सारी मानसिक वृत्तियां शिथिल हो जाती हैं । वैष्णव कवि की वाणी का सारा ऐश्वर्य इस `मदन मोहनिहारा` छबि तक आकर हतचेष्ट हो जाता है । आध्यात्मिक साधना कभी रूप की-साधना नहीं हो सकती । वह सारे रूप के भीतर से चंचलरूप के बन्धन को अतिक्रम करके ध्रुवसत्य की ओर चलने की चेष्टा करती है । वैष्णव कवि कल्पना और भक्ति को दो चीज समझता है जहां उसकी कल्पना रुक जाती है अर्थात् जब रूप `मोहन` हो उठता है । जहां सारी चित्तवृत्ति मुग्ध हो जाती है वहीं उसकी भक्ति शुरू होती है । वैष्णव कवि रूपोपासना को हेय समझते हैं- वे `फार्म` और `टाईप` को स्वीकार कर लेते हैं । अर्थात् वे कृष्ण और राधा के विशेष रूप के सम्बंध में कोई आपत्ति नहीं करते । वैष्णव कवि का रूप तो निश्चित है, किन्तु साधना पद्धति अनिश्चित । मध्य युग की भारतीय साधना में भी प्रेम ब्रह्म को व्यापक रूप में माना गया है । इस मध्य युग की साधना के समानान्तर चलनेवाली एक दूसरी प्रचण्ड प्रेमधारा यूरोप में उसी युग में आविर्भूत हुई थी वह थी ईसाई साधना ।

<u>प्राकृतिक</u> - आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने अनेक प्राकृतिक निबंध लिखे हैं । प्रकृति के प्रति उनके मन में एक सहज स्नेह रहा है । `वसन्त आ गया है`[६७] निबंध में शिरीष के फूल का वर्णन किया गया है । एक शिरीष है जिस पर लम्बी लम्बी सूखी छम्मियां लटकी हुई हैं, उसके कुछ पत्ते झड़ गए हैं और कुछ झड़ने के रास्ते में हैं । वे हवा में खक्किमलिका वाले उन्मत्त कापालिक भैरव की भांति खड़खड़ाकर झूम उठते हैं । एक नीम है, जवान है, मगर कुछ अत्यन्त छोटी किसलयिकाओं के सिवा उमंग का कोई चिन्ह उसमें

नहीं है । दो कृष्णाचूडाएं मरे फागुन में इस प्रकार खड़ी हैं मानो आषाढ़ ही हो- दो चार श्वेत पुष्प माघ और जेठ में भी रहेंगे । प्रकृति रानी नया श्रृंगार कर रही है और फिर जाने क्या व या । दो कांचनार वृक्षों में से एक स्वस्थ होने पर भी सूना पड़ा हुआ है और दूसरा जो कमजोर और मरियल पेड़ है वह दुबला होने पर भी लहक उठा है । वसन्त का आगमन कब होता है ? और प्रकृति में उसका प्रभाव कहां तक रहता है ? वसन्त सारे देश में काल के अनुसार आता है, वसन्त के आते ही प्रकृति खिल उठती है । सारी दुनियां में हल्ला हो गया है कि वसन्त आ गया है । महुआ बदनाम है कि उसे सबके बाद वसन्त का अनुभव होता है । जामुन का वृक्ष भी वसन्त आने के बाद में फूलता है और कर्णिकार जो जेठमास में मौज में आता है । वसन्तकाल के अनुसार भागता फिरता है । देश में नहीं काल में । अमरूद का वृक्ष ही ऐसा है कि बारह महीने इसका वसन्त ही वसन्त है । गंधराज पुष्प भी वसन्त में ही खिलते हैं, लेकिन वे ऋतु विशेष के इतने कायल नहीं है । कवियों की दुनिया में जिसकी कभी चर्चा नहीं हुई, ऐसी एक घास है विष्णुकान्ता । इसकेफूल बड़े मनोहर होते हैं । बसन्त आता नहीं, ले आया जाता है । जो चाहे और जब चाहे अपने पर ला सकता है । पलास का वृक्ष इस ऋतु में ऐसा फूला हुआ है कि ईर्ष्या होती है । 'शिरीष के फूल'[६८] शीर्षक निबंध में निबंधकार ने शिरीष के पेड़ के साथ-साथ ऋतु का वर्णन भी किया है । जेठ माह की कड़कड़ती धूप में जब धरती अग्निकुण्ड की तरह जलती है, ऐसी कड़ी गरमी में भी शिरीष का पेड़ नीचे से ऊपर तक फूलों से लद जाता है । सृष्टि में ऐसे बहुत कम फूल हैं जो इस प्रकार की गरमी में फूल सकने की हिम्मत करते हैं । कबीर जी के अनुसार यह शिरीष का वृक्ष ही अच्छा है जो बसन्त के आगमन के साथ लहक उठता है । आषाढ़ तक तो निश्चित रूप से मस्त बना रहता है । अगर मन रम गया तो भरे भादों में भी वह निर्घात फूलता ही रहता है । शिरीष के वृक्ष बड़े छायादार होते हैं । प्राचीनकाल में भारत में रईस लोग वृक्षों को बड़ा ही मंगल या शुभ मानते थे । अपनी वृक्ष वाटिका की चहार दीवारी के पास वे अशोक, अरिष्ट, पुन्नाग, और शिरीष आदि से मिश्रित वृक्षवाटिका रखते थे । बकुल की तुलना में शिरीष भी तो कुछ कम नहीं है । संस्कृत साहित्य में शिरीष का फूल बहुत कोमल माना गया है ।

कालिदास के मतानुसार शिरीष का पुष्प इतना कोमल होता है कि वह केवल भौंरों के पदों का कोमलदबाव सहन कर सकता है। पक्षियों का बिलकुल नहीं। शिरीष के फल इतने मजबूत होते हैं कि नये फूलों के निकल आने पर भी वे अपना स्थान नहीं छोड़ते। बसन्त ऋतु के आगमन के समय जब सारी वनस्थली पुष्पपत्र से मर्मरित होती रहती है तब शिरीष के पुराने फल बुरी तरह खड़खड़ाते रहते हैं। अर्थात् आज लोगों में अधिकार की भावना नें दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। नेताओं की तरह वे अपने पुराने अधिकारों को पकड़े रहते हैं। यह अधिकार लिप्सा सामान्य मनुष्य के मन में भी पैठ गई है। जीवन की चार अवस्थाएं हैं- मृत्यु यह आदमी की अंतिम अवस्था है। तुलसीदास जी शिरीष के फूल को कहते हैं कि क्यों नहीं फलते ही समझ लेते बाबा, कि झड़ना निश्चित है। जो जन्म लेता है वह मरता भी है। काल रूपी अग्नि सर्वत्र व्यापक है और इनकी झपट में सभी को आना ही पड़ता है। शिरीष के वृक्ष को एक अद्भुत अवधूत माना गया है। यहां पर कबीर को भी शिरीष के समान बताया गया है। वनस्पति शास्त्री के अनुसार यह उस श्रेणी का पेड़ है जो वायुमण्डल से अपना रस खींचता है। अवधूतों के मुंह से ही संसार की सबसे सरस रचनाएं निकली है। सारांशत: सच्चे कवि बनने के लिए शिरीष के पेड़ की तरह फक्कड़ बनने को कहा गया है। फूल या पेड़ अपने आपमें समाप्त नहीं है, वह किसी अन्य वस्तु को दिखाने के लिए उठी हुई अंगुली है। अन्त में शिरीष तरु को सचमुच पक्के अवधूत की भांति बताकर उसकी तुलना भारत देश के अवधूत महात्मागांधी से की है।

'आम फिर बौरा गए'[66] निबंध में बसन्त ऋतु की आरंभावस्था तथा प्रकृति वर्णन का चित्रण किया गया है। उसमें बसन्त पंचमी के पहले की आम्रमंजरी का महत्व दिखाया गया है। इस आम्रमंजरी को हथेली में रगड़ने से हम सालभर तक बिच्छू के जहर को उतार सकते हैं। यहां आम और बिच्छू के बीच का सम्बंध प्रदर्शित है। बिच्छू ऐसा प्राणी है जो आदिम सृष्टि के समय जैसा था आज भी वैसा ही है।

ठीक वैसे ही आम में जितना परिवर्तन हुआ है उतना बहुत कम वस्तुओं में हुआ होगा। आम की मनोहर मंजरियों को देखने से बिच्छू जैसे - जो संसार का सबसे पुराना, सबसे खूंसट, सबसे क्रोधी और सबसे दकियानूस प्राणी है इसकी याद आ जाती है। प्राचीन काल में दुष्यन्त नामक पराक्रमी राजा के हृदय में प्रिया वियोग की विषम ज्वाला जल रही थी। तभी बसन्त का पदार्पण हुआ ऐसा कहा गया है। उसी समय राजा ने वसन्तोत्सव मनाने की आज्ञा नहीं दी और मदन देवता को अपना बाण अधखींचा ही रखना पड़ा। कालिदास जी ने आम्र कोरकों को वसन्तकाल का 'जीवित सर्वस्व' कहा था। कामशास्त्र नामक ग्रन्थ में 'सुवसन्तक' नामक उत्सव की चर्चा आती है। जबकि सरस्वती कण्ठाभरण में इस सुवसन्तक को ही वसंतावतार का दिन माना है। सरस्वती कण्ठाभरण में भोजदेव ने वसन्तावतार की फांकी देते हुए कहा है कि इस दिन उस युग की ललनाएं कण्ठ में माला और कान में दुर्लभ आम्र मंजरियां धारण करके गांवों को जगमग कर देती थी। धर्मशास्त्र की पोथियों से जान सकते हैं कि इस दिन मदन देवता की पूजा करने से स्वयं श्री कृष्ण चन्द्र जी प्रसन्न होते हैं। इसी तरह प्राचीनकाल के इतिहास में वसन्त के आगमन के बारे में विभिन्न दंतकथाएं या मतमतान्तर प्रचलित हैं। आम के फूलों को लेकर कहा गया है कि आम के फूलों का वर्णन इतना होना ही नहीं चाहिए, क्योंकि यह तो अन्नपूर्णा का प्रसाद है, धन्वन्तरी का अमृत कलश है, यह धरती ^माता का दुग्ध^ है, मनुष्य इस विश्व का दुर्जेय प्राणी सिद्ध हुआ है। आम्र की मंजरी विधाता का वरदान है। आम का फल मनुष्य की बुद्धि का परिणाम है। 'वर्षा धनपति से घनश्याम तक'[70] निबंध में वर्षा का वर्णन हुआ है। वसन्त के समान वर्षा भी भारतीय साहित्य में सम्मान और गौरव का स्थान पाती आ रही है। महाशक्तिशाली, महादाता पर्जन्य देवता की स्तुति की गई है। इन्द्र मेघों के अधिपति हैं, वे पर्जन्य देवता हैं। जब वे मेघाच्छन्न आकाश में गरजते होते हैं तो ऐसा जान पड़ता है कि दूरस्थ अरण्य गुहा से सिंह दहाड़ रहा हो। वैदिक ऋषि ने सदा भय और आतंक के अंधकार में कल्याण की ज्योति देखी है। पर्जन्य देवता के भीम गर्जन में इसी कल्याण का संदेश है। इन्द्र के दक्षिण मुख का प्रसाद है। जब इन्द्र देवता अपने शक्तिशाली मेघों के घोड़ों

और बिजली के कोड़ों का प्रयोग करके भी नहीं जीत सके। मेघों के प्रचण्डदल दिन और रात झकोर झकोर कर बरसते रहे। आकाश और धरती का अंतर मिट गया। पेड़-पौधे भी त्राहि-त्राहि कर उठे। नंद बाबा घबरा गये, जसोदा मैया डर गईं। गोप बालकों और गोपियों के हृदय में शंका और भीति के भाव घुमड़ आए लेकिन एक ही बालक उसमें अटल बना रहा, कृष्ण देव राव। वर्षा का सबसे सुन्दर काव्यात्मक वर्णन आदिकवि बाल्मीकि ने किया है, वह प्रकृति का सजीव और यथार्थ वर्णन है। वैदिक ऋषि के समान वाल्मीकि ने भी वर्षा के लोक कल्याण कर रूप को देखा है। परन्तु उन्होंने प्राकृतिक दृश्यों का ऐसा मनोरम दृश्य खींचा है कि अनायास वह दृश्य अपनी शोभा और गरिमा के साथ प्रत्यक्ष हो उठता है। गाथा-सप्तशती प्रकृति के उद्दाम आवेगों को अत्यन्त सहज और प्रकृत तथा निरंकुश रूप में उपस्थित करती है। पुराने कवियों ने वर्षा के विभिन्न अवयवों की बार-बार चर्चा की है। परन्तु सर्वत्र ये मेघ मनुष्य के भावोद्दीपन में सहायक माने गए हैं। कालिदास ने मेघदूत में मेघ को इन्द्र देवता वा प्रकृति पुरुष या प्रजा वर्ग से सम्पर्क स्थापित करनेवाला 'राजपुरुष' कहा है। वर्षाकाल की प्रेरणा विलास का उत्तम समय है। 'प्राचीन भारत में मदनोत्सव' निबंध में वसन्तोत्सव का वर्णन हुआ है। कालिदास जो वसन्तोत्सव का बहाना ढूंढते रहते ही लगते हैं। 'मेघदूत' वर्षा ऋतु का काव्य है। कामसूत्र में इस समय के कई उत्सवों की चर्चा की आती है। मदनोत्सव और सुवसंतक मदनोत्सव होली के रूप में आज भी पूरे उत्साह के साथ मनाया जाता है। फागुन से आरंभ करके चैत के महीने तक वसन्तोत्सव कई प्रकार से मनाया जाता था। राजमार्गों के चौराहों पर मर्दल नाम के ढोल और चर्चरीगीत की ध्वनियां मुखरित हो उठती थी। यह होली का पुराना रूप है। भवभूति के मालती माधव नामक प्रकरण में इस उत्सव का एक शांतस्निग्ध चित्र मिलता है। मदनदेवता की एक पूजा चैत्र के महीने में होती है थी। अशोक वृक्ष के नीचे मिट्टी का कलश स्थापित किया जाता था, सफेद चावल भरे जाते थे। कलश के उपर ताम्रपत्र पर केले के पत्ते रखे जाते थे जिस पर कामदेव और रति की प्रतिमा उतारी जाती थी। गंध, धूप, नृत्य आदि से देवताओं को तृप्त कियाजाता

था । कालिदास के मालविकाग्नि मित्र और श्री हर्षदेव की रत्नावली में इस उत्सव के सर्वाधिक सरस अनुष्ठान, अशोक में पुष्प ले आने का विवरण मिल जाता है । मालविकाग्नि मित्र से पता चलता है कि मदन देवता की पूजा के बाद ही अशोक में फूल खिला देने का अनुष्ठान होता था । मत्स्य पुराण में `कामनाम्ना हरे चर्चा` कहकर बताया है कि वस्तुत: `काम` नामक हरि की ही पूजा की जाती है । काम का दूसरा रूप भी है जो व्यक्ति के विवेक को दबा देता है । मनुष्य को अन्धा बना देता है । शिव ने इसी मादक मदन देवता को भस्त किया था । संसार की लगभग सभी सभ्य आदिम जातियों में वसन्तकाल में उद्दाम यौवनोन्मादक उत्सव पाये जाते हैं । `संस्कृत की कवि प्रसिद्धियां`[७१] निबंध में संस्कृत साहित्य में प्रयुक्त कवि प्रसिद्धियों की चर्चा की गई है । कवि प्रसिद्धियां कवियों की दुनिया की सचाई है । चन्दन में फूल होते हैं, लेकिन कवि प्रसिद्धि है कि नहीं होते । आजकल चैत्र का महीना है, पेड़ों में पुष्प लदे हुए हैं ऐसा जान पड़ता है कि किसी अज्ञात पुलकोत्कम्प के कारण धरित्री रोमांच कंटकित हो रही है । बसन्त में ऐसा ही होता है । जब जब वसन्त ऋतु आती हैं तब- तब पृथ्वी के हर कोने में उल्लास की लहर दौड़ पड़ती है, यह सारा दृश्य अपने आप में ही मादक है । परन्तु संस्कृत का कवि अस्पष्ट भावोच्छ्वासों को महत्व नहीं देता । वह कविताएं ही क्या जो चित्त में भावों की मदिर तरंगे न लहरा देती हों, जो पदझंकार मात्र से पाठक के चित्त को मथित और व्याकुल नहीं बना देती । संस्कृत कवि की दृष्टि से कविता में मादकता होनी ही चाहिए । कवियों का विश्वास है कि अशोक यों ही नहीं फूलता, सुन्दरियों के सुनूपुर चरणों के आघात से फूलता है और बकुल मुख मदिरा से सींचकर खिल उठता है । राजशेखर का कहना है कि जो बात दीर्घकाल से कवियों में सत्य समझकर गृहीत होती आई है उसे इस प्रकार काव्यदोष न कहकर कवियों का आचार कहना ही युक्ति संगत है । प्राचीनकाल के कवि, परम्परा से जिन बातों का वर्णन करते आ रहे हैं वे यदि इस काल या देश में नहीं मिलती तो उन्हें दोष कहना अनुचित है । राजशेखर प्रकृति के बड़े सूक्ष्म निरीक्षक थे, उनके मत से प्राकृतिक निरीक्षण का अभाव कवि का बहुत बड़ा दोष है । पुराने आचार्यों ने अपने सूक्ष्म - निरीक्षण के बल पर जितना लिखा है वह महत्वपूर्ण होते हुए भी संक्षिप्त और सीमित है ।

ऐतिहासिक :

'आदिकाल में अन्तप्रान्तीय साहित्य का ऐतिहासिक महत्व'[७२] शीर्षक निबंध में उन्नीसवीं शताब्दी में विदेशी विद्वानों ने भारतीय इतिहास का संपूर्ण चित्र प्रकाशित करने का प्रयत्न किया । इस युग में जिस विदेशी जाति से भारतवर्ष का सम्पर्क हुआ वह भारतीय समृद्धि के शोषक के रूप में ही परिचित है । किसी किसी क्षेत्र में छोटे-छोटे उद्देश्यों को सामने रखकर काम करने पर भी इन पण्डितों ने परिश्रम से हमारे साहित्य के अध्ययन का मार्ग प्रशस्त किया । पृथ्वीराज रासो की तिथियां विवाद का विषय सिद्ध हुईं, पद्मावत की ऐतिहासिक मानी जानेवाली घटना की प्रामाणिकता सन्देहास्पद समझी गईं । कई अन्य दरबारी और चारण कवियों की रचनाओं की प्रामाणिकता भी विवादास्पद साबित हुईं । हिन्दी ग्रंथों के अध्ययन का उत्साह ठण्डा पड़ गया । वस्तुत: हिन्दी भाषा जिन दिनों साहित्य का वाहन बनने लगी थी उन्हीं दिनों भारतीय इतिहास की एक महत्वपूर्ण और शायद अभूतपूर्व भी घटना घट गई । वह है इस्लाम का प्रवेश । साहित्य शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थों में हुआ है । वस्तुत: यह साहित्य पूर्णरूप से रसपरक साहित्य है भी नहीं । इसका जितना हिस्सा रसात्मक साहित्य कहा जा सकता है वह भी बहुत प्रेरणादायक और स्फूर्तिजनक नहीं कहा जा सकता । जो साहित्य अपने युग के मनुष्य को उसकी सभी सबलताओं और दुर्बलताओं के साथ, उसकी समस्त आशा-आकांक्षाओं के साथ, हमारे सामने प्रत्यक्ष लाकर खड़ा कर देता है वह निस्सन्देह महान साहित्य है । हम जिस साहित्य की चर्चा करने जा रहे हैं उसमें इस मनुष्य की विजय पराजय को आगे बढने के लिए किये गए संघर्षों और पीछे हटने के प्रयत्नों को समझने के अनेक इंगित हैं । यह साहित्य अपने युग को समस्त गुणादोषों के साथ प्रत्यक्ष कर देता है । नाथों और निरंजनियों की अनुभूतियां, जैन और बौद्ध साधकों के दोहे और पद, निर्गुणियों की रचनाएं और साम्प्रदायिक परम्पराएं और अपभ्रंश कवियों की लौकिक कविताएं हमें अपूर्व जगत का दर्शन कराती हैं । इस दुनिया को प्रत्यक्ष करा सकने की शक्ति एकमात्र इसी साहित्य में है । इस देश की अनेक आर्येतर जातियां धीरे- धीरे

आर्य भाषाभाषी हुई है । आर्यभाषी होने के बाद इन्हें अपने विश्वासों और अनुभवों की बातें देशी भाषाओं के माध्यम से कहने का अवसर मिला है । यही कारण है कि देशी भाषाओं के लिखित साहित्य में और उनके लोक कथाओं,कहावतों, और किवदंतियों में ऐसे संकेत मिल जाते हैं जो पुराने संघर्षों को स्पष्ट करते हैं । मुसलमानों के आने से पहले इस देश में कई ब्राह्मण विरोधी संप्रदाय थे । बौद्ध और जैन तो प्रसिद्ध है ही कापालिकों, लाकुलपाशुपतों, वामाचारियों आदि का बड़ा जोर था। मुसलमानी आक्रमण तीरफलक की भांति उत्तरभारत में तेजी से घुस गया था। इससे दसवीं शताब्दी का धार्मिक और सांस्कृतिक वातावरण विक्षुब्ध हो गया था । वेद और ब्राह्मण विरोधी साधनाएं उन दिनों वर्तमान थीं । ये साधनाएं चारों ओर फैल गयी और अपने इर्द-गिर्द के वातावरण के अनुकूल होकर प्रकट हुईं । इस ऐतिहासिक विकास को समझने के लिए वर्तमान देशी भाषाओं के साहित्य के अध्ययन की जरूरत है । दसवीं शताब्दी के आसपास में योगमत बहुत प्रबल हो गया था । शरीर को ही समस्त साधनाओं का आधार समझना और समरसभाव प्राप्त करके स्वसंवेदन आनंद के उपभोग को ही चरम लक्ष्य बनाना उस युग के वेदबाह्य साधनाओं की विशेषता है । धर्म क्या है यह समझाने का प्रयत्न किया गया है, कबीरपंथी पुस्तकों में से निरंजनमत पर विचार प्रदर्शित किये गए हैं ।

२६ वीं जनवरी आई और चली गई । आठ वर्ष पूर्व भारतवर्ष ने अपना नया संविधान कार्यान्वित किया । इनमें पहली बात है बालिग मताधिकार वर्ग में स्वीकृति के कारण बहुत से उपेक्षित जनसमूह राजनीतिक अधिकारों की चेतना से शताब्दीयों बाद उद्बुद्ध हुए । २६ जनवरी १९५० को लगभग समूचा हिन्दू भारत एक संविधान के अंतर्गत आ गया । नेपाल और पूर्व पाकिस्तान के थोड़े से हिन्दू इसके बाहर रह गये । जातिपांति का भेदभाव इस सभ्यता का अविच्छेद अंग रहा है । स्त्रियों को सम्पत्ति का समानभागी माना गया है । तलाक प्रथा को कानूनी घोषित किया गया है, ज्यों-ज्यों समय बीतता जायगा त्यों-त्यों ये कानून समाज को तेजी से

परिवर्तित करने लगे । जाति से बहिष्कृत होने का अब भय नहीं रहेगा । दहेज आदि कुरीतियां शिथिल हो गयीं । स्त्रीयां अधिक शक्ति अनुभव करेंगी । आर्थिक दृष्टि से इसका यह प्रभाव होगा कि बहुत बड़ी धनराशि संचित रखना कोई पसन्द नहीं करेगा । अपनी जीवितावस्था में ही बड़ी धनराशि को वह बांटकर छोटी करने का यत्न करेगा । संसद ने आर्थिक समानता लाने के लिए और भी अनेक कदम उठाए हैं जिनसे आर्थिक वैषम्य के दूर होने की आशा की जा रही है । देश के विभाजन के समय देश में हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य का वातावरण बहुत ही भयंकर था । भारतीय संघ में इनकी झिझक और अरक्षणाकातर मनोभाव को दूर करने का प्रयत्न किया है पर अभी साम्प्रदायिक मनोवृत्ति निर्मूल नहीं हुई है । राष्ट्रभाषा की ओर आगे बढ़ने के बजाय जो हम पीछे हटे हैं, वह इस प्रान्तीय भावना के कारण ही । सभी भाषाओं को एक-दूसरे के निकट लाने की आवश्यकता जनता और सरकार दोनों ने अनुभव की है । मानव मूल्यों और मानवादर्शों में विश्वास करनेवाले इस देश के व्यक्तियों और समूहों में आचरण और विचार का जिस पवित्रता और निष्ठा की आवश्यकता होती है, सब समय हम उसके पास नहीं पाते । चरित्रगत कमजोरी सब कमाई को कष्ट कर देती है । पिछले आठ वर्षों में हमारा देश सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक रूप से दुर्भेद्य बनने के लिए महत्वपूर्ण कदम उठा चुका है । स्वायत्त शासनीय स्थानीय संस्थाओं और ग्राम पंचायतों ने जहां गांवों के अनेक चिर उपेक्षित वर्गों में आत्मगौरव और आत्मचेतना का भाव उद्बुद्ध किया, वहीं तनातनी और अविश्वास का वातावरण भी उत्पन्न किया । सामाजिक पत्रों में निकली हुई आलोचनाओं के विश्लेषण से यही सिद्ध हो रहा है कि उनके मूल में कान और आंख का सामंजस्य है ।

'जनता का अन्त: स्पन्दन'[७३] निबंध में अन्त: स्पन्दन यानी कुछ ऐसा प्रयत्न होना चाहिए कि इस वंचित जनता के भीतर रसग्राहिका संवेदना उत्पन्न हो । अन्त:स्पन्दन जैसे शब्दों ने अपने इर्द-गिर्द जो वातावरण बना लिया है ~~उससे~~ उससे ऐसा लगता है कि इन शब्दों का व्यवहार करनेवाला कुछ ऐसा ही कौशल प्रदर्शित करने

जा रहा है। गीता में भगवान ने कहा है कि जो असत है उसकी सत्ता हो ही नहीं सकती, जो सत है उसका अभाव भी नहीं हो सकता- 'नासते विद्यते भावो' ना भावो विद्यते सतः।' सो जो वस्तु जनता के भीतर नहीं है उसको उद्‌बुद्ध करने की चेष्टा बेकार है। मनुष्य के प्रयोजन कई प्रकार के हैं, जिनको इन्द्रियार्थ या विषय कहा जाता है। वे बहुत बाह्य प्रयोजन है। हमारे स्थूल शरीर के बचे रहने के लिए आहार निद्रा आदि आवश्यक हैं परन्तु केवल इतना मिल जाने से मनुष्य 'मनुष्य' नहीं हो जाता। उसे कुछ मानसिक भोजन भी चाहिये। बौद्धिक अनासक्ति विकसित मनुष्य की निजी विशेषता है। अनासक्ति मनुष्य ने बड़ा कठिन तपस्या और अभ्यास के बल पर प्राप्त की है। जो लोग बाह्य प्रयोजनों की पूर्ति की कोई व्यवस्था सोचे बिना सूक्ष्मतर मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक साधना की बात सोचते हैं वे काल्पनिक दुनिया में ही चक्कर काटते हैं। रूप का आधार पाये बिना रूपातीत सौंदर्य की कल्पना करना निठल्लों का मनोविनोद हो सकता है। मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त हमें बड़े प्रयत्न करने होंगे। मनुष्य भोजन के बिना नहीं रह सकता। यह उसकी जबरदस्त आवश्यकता है। भारत वर्ष की समग्र जनमण्डली को मनुष्य की उच्चतर साधनाओं के प्रति संवेदनशील बनाना है। उसे राजनीतिक और आर्थिक शक्तियों की गतिविधि पर नजर रखनी होगी। इतिहास की दीर्घयात्रा में मनुष्य ने बहुत कुछ खोया है और बहुत कुछ पाया है। उन्नीसवीं शताब्दी के दार्शनिकों का विश्वास था कि मानव सभ्यता के प्रथम युग में मनुष्य ने भय और कौतूहलवश नाना अदृष्ट शक्तियों की कल्पना कर आज की वर्तमान आदिम जातियों में प्रकृति की अदृष्ट शक्तियों के प्रतिभय और कौतुहल के भाव नहीं पाये जाते, जिनमें पाये जाते हैं वे आदिम स्थिति में नहीं है। आदि मानव अपने बनाये चित्रों को असली वस्तु का प्रतिनिधि समझता था। ज्यों-ज्यों मनुष्य प्रकृति के रहस्यों को भेदता गया, त्यों- त्यों उसकी रूपसृष्टि के प्रेरक मनोभाव प्राप्त होते गए। मनुष्य प्राथमिक अवस्था में इन्द्रियार्थों की प्राप्ति की कामना से ही अपना कर्तव्य निर्माण करता रहा। धीरे-धीरे उसमें मान की, यश की, पुण्य की, मांगल्य की, परोपकार की, नैष्कर्म्य की और भागवत आनन्द

की कामना विकसित हुई है । आज मनुष्य जो धन कमाने या अधिकार की इच्छा से अनेक प्रकार के प्रयत्न करता है वह पुराने मनुष्य के इन्द्रियार्थ लाभ का ही रूपान्तर है । साहित्यकार अपना सन्देश तभी सुना सकता है जब समाज की राजनीति और अर्थनीति उसके अनुकूल हो ।

संस्मरणात्मक :

'सत्य का महसूल'[७४] शीर्षक निबंध में निबंधकार श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी को ग्यारह वर्षों तक लगातार रवीन्द्रनाथ के साथ रहने का सौभाग्य मिला था । निबंधकार को संस्मरण लिखने का अवसर मिलता है तो केवल एक ही बात रह-रहकर उनके मस्तिष्क में आ जाती है । और वह है गुरुदेव का सहज प्रसन्न मुखमण्डल, स्नेहमेदुर बड़ी-बड़ी आंखें और उनका साधारण मंदहास्य । गुरुदेव ने एक पुस्तक लिखी थी, बंगला भाषा के व्याकरण के सम्बंध में । विश्वभारती ग्रन्थागार में इस पुस्तक की जो प्रतियां सुरक्षित हैं, उन पर उनके हाथ के लिखे नोट हैं । उनकी लिखी हुई पुस्तक में कहीं हिन्दी शब्दों और प्रत्ययों के साथ बांगला शब्दों और प्रत्ययों की तुलना की गयी है । दूसरे दिन आकाश बादलों से भर गया । मेघ और आंधी के सम्मिलित घूत्कार से दिङ्मण्डल प्रकम्पित होता रहा, ऐसे समय पर गुरुदेव का सेवक निबंधकार को बुलाने के लिए उनके घर गया । काफी देर हो जाने के कारण उसकी व्याकुलता और भी बढ़ गयी थी । बिना किसी भूमिका के उसने कहा- गुरुदेव बाबू बड़ी देर से आपको बुला रहे हैं । जल्दी चलिए । निबंधकार जल्दी से चादर सिर पर रख कर भागे । थोड़ी देर म तकगुरुदेव आसमान की ओर देखते रहे और स्वयं धीरे-धीरे प्रकृत विषय पर आए । गौड़ीय व्याकरण के अंश दिखाते हुए गुरुदेव ने विनोद के साथ कहा- देखा, पढ़ा लिखा नहीं हूं तो क्या हुआ ? बात निराधार नहीं लिखता । अपने नहीं पढ़ने-लिखने के बारे में वे प्रायः ही विनोदपूर्ण चुटकियां लिया करते थे । गुरुदेव ने स्वयं 'साधना' में भारतवर्ष के इस सन्देश की बात कही है । आज भारतवर्ष में साधना का अभाव है। यदि वह स्वाधीन हो जाय तो सन्देश सुनाने की योग्यता उसमें

अभी नहीं आयेगी। गुलामी केवल राजनीतिक थोड़ी ही है वह तो उसकी नसनस में व्याप्त हो चली है। निबंधकार कहते हैं कि भारतवर्ष यदि आज ही विश्व के दरबार में उपस्थित हों तो उसे अपनी बात सुनाने का मौका नहीं दिया जायेगा। यह बात उस महामानव के मुंह से सुन रहा था जिसका सन्देश सुनने के लिए पश्चिम और पूर्व की जनता समुद्र की भांति उमड़ पड़ती थी। भारतीय मनीषा के सर्वोत्तम अंश के प्रतिनिधि रवीन्द्रनाथ थे। उस दिन उन्होंने कुछ उत्तेजित होकर ही कहा था कि भारतीय समाज तब तक शक्ति संचय नहीं कर सकता, जब तकवह साहसपूर्वक सत्य को स्वीकार न कर ले। दीर्घकाल तक सच्चे मनुष्यों की बलि पाकर ही इस देश की शक्ति प्रसन्न हो सकती है।

संवत् १९६९ में उन्होंने एक आश्रमवासी के नाम पत्र लिखा-था। यहां पर निबंधकार का अनुवाद है। किसीदिन किसी विशेष अवस्था में हमारे समाज ने किसी को ब्राह्मण, किसी को क्षत्रिय, किसी को वैश्य और किसी को शूद्र होने को कहा था। हमारे वर्तमान समाज का कोई सजीव दावा नहीं है। यहां वह मनुष्य से कहता है- ब्राह्मण बनो, वह जो कुछ कह रहा है उसका ठीक ठीक पालन करना, किसी प्रकार भी संभव नहीं है। इसी प्रकार सामाजिक जीवन के साथ सामाजिक विधि का विच्छेदन घटित हो जाने से हम जो आवश्यक काल विरोधी व्यवस्था द्वारा बाधा पा रहे हैं। इतना ही नहीं हम सामाजिक सत्य की रक्षा भी नहीं कर पा रहे हैं— हम मूल्य देते हैं और लेते हैं फिर भी बदले-बदले में कोई सत्य वस्तु नहीं पा रहे हैं। शिष्य गुरु को प्रणाम करके दक्षिणा चुका देता है किन्तु गुरु शिष्य का कर्ज चुका देने का प्रयत्न भी नहीं करता। मनुष्य में वीरों की संख्या थोड़ी ही होती है अतएव, सत्य को प्रकाश रूप में स्वीकार करने का दण्ड जहां असह्यरूप से अत्यधिक है, वहां कपटाचार को अपराध मानने से काम नहीं चलता।

'वह चला गया'[७५] निबंध में विश्व की महान विभूति महात्मागांधी जी के व्यक्तित्व का वर्णन किया गया है। वे ब्रह्मचर्य केपालनकर्ता, धर्म में माननेवाले-संयमी,

वैरागी, सत्यवक्ता, अहिंसा के पालनकर्ता थे । इतिहास ने इतनी क्षीण काया में इतना बड़ा प्राण नहीं देखा था वे इस धरती पर एक प्रकाश के पुंज थे । संसार में हंसते हुए आए थे और सभी को रुलाकर चले गये । उनके व्यक्तित्व में प्रभाव था, वहजिधर मुड़ा जीवन लहरा उठा, जिधर झुका प्रेम बरस पड़ा । जिधर चला जमाना ढरक पड़ा । वह शक्ति का भण्डार था । भागवत के अनुसार मनुष्य जितना भगवान को देता है उतना ही उसका अपना होता है । गांधी जी ने अपना सब कुछ ज्ञान, कर्म, भक्ति, मन, वाणी, प्राण, विद्या, बुद्धि, वैभव राम को दे दिया था । इसीलिए इन पर उनका अखण्ड अधिकार था । उनमें अपार शक्ति भरी हुई है । कबीरदास के उदाहरण से इस संसार को समझाया गया है । मनुष्य का व्यक्तित्व भी चित्रित किया गया है । मनुष्य क्या है? मनुष्य को सिर्फ आहार-निंद्रा के साधनों से प्रसन्न होनेवाला, घर द्वार जुटाकर खुश रहनेवाला ही नहीं कहा गया है बल्कि मनुष्य को पशु का विकसित रूप कहा गया है । मनुष्य पशु से भिन्न भी है और उन्नत भी । क्योंकि उसमें संयम और तप करने की शक्ति है । जितेन्द्रियता मनुष्य की विशेषता है । गांधी जी ने मनुष्य को इस स्तर पर ले जाने का प्रयत्न किया था । गांधी जी ने मनुष्य की सेवा को उसके उच्च स्तर पर ले जाना चाहते थे । नर की सेवा - नारायण की सेवा है । मनुष्य को ताप तप्त अवस्था से उबारना अखिलात्मा पुरुष की सबसे बड़ी आराधना है । भारतवर्ष सचमुच आज दरिद्र बन गया है उनकी मृत्यु नहीं हुई बल्कि वे अमर हो गये, वे एक महान आत्मा थे, महापुरुष थे । वह देश भी धन्य है जिसने गांधी को पैदा किया था । वह समाज भी धन्य है जिसके लिए उसने अपने को निःशेष भाव से दे दिया था ।

'तिलक का गीतादर्शन'[७६] निबंध में तिलक का व्यक्तित्व प्रदर्शित किया गया है । तिलक केवल स्वतंत्रता संग्राम के कुशल सेनम सेनानी ही नहीं थे । वे प्राचीन, अर्वाचीन साहित्य, धर्मशास्त्र, ज्योतिष और दर्शन के गंभीर विद्वान थे । एक ही साथ उनमें अनेक महान गुण विद्यमान थे और प्रत्येक क्षेत्र में शीर्ष स्थानीय नेता भी

बन चुके थे । श्रीमद्भागवत गीता हमारे देश के महान विचारकों की बहुत श्रद्धेय पुस्तक है । लोकमान्य तिलक ने किसी पूर्व आग्रह के वशीभूत होकर अपनी बात नहीं लिखते थे । उन दिनों तक भारतीय मनीषा किन महान विचारों को दे सकी थी, ग्रन्थों के विभिन्न संदर्भों में कहीं हुई संगति क्या है ? इत्यादि बातों की निपुण परीक्षा के बाद निष्कर्षरूप में गीता को कर्मयोग शास्त्र कहा है । वैदिक धर्म में पहले द्रव्यमय या पशुमय यज्ञों का अर्थात् केवल कर्मकाण्ड का ही अधिक माहात्म्य था । परन्तु फिर उपनिषदों के ज्ञान से वह केवल काण्डप्रधान श्रौतधर्म गौण माना जाने लगा और उसी समय सांख्यशास्त्र का प्रादुर्भाव हुआ । लोकमान्य तिलक ने गीता के दूसरे अध्याय में ४७ वें श्लोक में चारों चरणों को कर्मयोग की चतु:सूत्री कहा है । सारांशत: उन्होंने लिखा है कि-`कर्मकर` कहने से कुछ यह अर्थ नहीं होता है कि फल की आशा रख और फल की आशा को छोड़ कहने से यह अर्थ नहीं हो जाता कि कर्मों को छोड़ दे । अतएव इनके दिए श्लोक के अर्थानुसार फलाशा छोड़कर कर्तव्य, कर्म, अवश्य करना चाहिए । इस प्रकार गीता में अनासक्त भाव से कर्म के फल पाने की इच्छा न करते हुए सबके कल्याण कार्य और सेवाकार्य में लगे रहने की शिक्षा दी गई है । लोकमान्य तिलक ने उन दिनों नवशिक्षित भारतवासियों में इस विश्वास को जड़ पकड़ते देखा था कि हमारे प्राचीन शास्त्रकार मोक्ष ही के गूढ़ विचारों में निमग्न हो जाने के कारण सदाचरण के या नीतिधर्म के मूल तत्वों का विवेचन करना भूल गए।[७७]

`गीता रहस्य` में लोकमान्य तिलक के अपूर्व पांडित्य, अडिग धैर्य, और अस्खलित आस्था देखकर पाठक चकित रह जाते हैं । इतना पांडित्यपूर्ण ग्रन्थ माण्डले जेल में पेंसिल से लिखा गया था । गीता में कर्मयोगी को जिस रूप में समझाया गया है और `गीता-रहस्य` में उसकी जैसी कुछ व्याख्याएं हैं उसका प्रत्यक्ष विग्रह स्वयं लोकमान्य तिलक थे। निष्काम कर्म और समबुद्धि के दर्शन को उन्होंने कष्ट नहीं समझा, वे गीतोक्त स्थितप्रज्ञ थे । उनकी साधना ने भारतभूमि को पराधीनता के पाश से मुक्त किया । लोकमान्य का सारा जीवन भगवान को समर्पित जीवन था । `व्योमकेश शास्त्री उर्फ हजारीप्रसाद द्विवेदी जी [७८] में अपने मित्र पं० भुवनेश्वर मिश्र `माधव` के कहने पर `कुछ सनातनधर्म`

विषय पर लिखना स्वीकार किया । धर्म का उपदेश देना उनको नहीं आता था । ज्योतिष का नशा भी स्वभाव से नहीं उतरा था इसीलिए उन्होंने पंचांगों की चर्चा करना ही 'सनातन धर्म' में काफी महत्वपूर्ण समझा । यह पंचांग हिन्दू विश्वविद्यालय से सम्पादक पंडित मदनमोहन मालवीय जी के द्वारा निकला था । इसमें दूसरे थे महादेव तुल्य औढ़रदानी गुरु० पं० रामरतन ओझा जी । पंचांग में किसी जमाने में स्वयं निबंधकार भी कुछ काम कर चुके थे । इस बार उन्होंने उनका नाम लिए बिना आलोचना कर दी । उन्होंने पूरे उत्साह के साथ लिखा, किन्तु भेजने का समय आया तो मन कांप उठा । गुरु जी पढ़ेंगे तो क्या कहेंगे ? गुरु जी जानते ही हैं, बहुत होगा डांट देंगे उनसे क्षमा मांग लेना तो बड़ा ही आसान काम है । मगर सत्य बात कह देनी चाहिये । लेखक का नाम था व्योमकेश शास्त्री उसमें पता-ठिकाना कुछ नहीं था और माधव जी को चकमा देने का प्रयास था । डाकिया जब बड़ा सा बण्डल लिए व्योमकेश शास्त्री का पता पूछते निबंधकार द्विवेदी जी के पास पहुंचा, उन्होंने पार्सल ले लिया । उसमें एक बड़ा पोथा था इन्दौर की पंचांग समिति का रिपोर्ट, जो बहुत ही उपयोगी पुस्तक थी । कुछ और छोटी-छोटी पुस्तिकाएं थी और साथ में प्रसिद्ध पंचांग निर्माता पं० दीनानाथ शास्त्री का पत्र था । वे इन्दौर के महाराजा के ज्योतिषी थे और वहीं से पंचांग प्रकाशित करते थे । इन्दौर में एक अखिलभारतीय ज्योतिष सम्मेलन में बंगाल के प्रतिनिधि व्योमकेश शास्त्री को रखा गया है । पंचांग निर्माताओं में अपने अपने पक्ष की स्थापना के लिए निमंत्रित विद्वानों में गुरु जी भी रहेंगे और यह अपदार्थ 'व्योमकेश शास्त्री' निर्णायक समिति में फैसला सुनाने के लिए विराजमान रहेगा । माधव जी क भी नहीं पहचान सके कि व्योमकेश शास्त्री और हजारीप्रसाद द्विवेदी एक ही हैं । इतना ही नहीं बुकपोष्ट पर शांति-निकेतन के डाकघर का ठप्पा देखकर उन्होंने दीनानाथ शास्त्री को बता दिया था कि यह कोई शान्ति निकेतन का महापंडित है । निबंधकार को बड़ी ग्लानि हुई इस प्रसंग पर। पं० दीनानाथ को सच्ची बात लिख दी । मैं बंगाल का प्रतिनिधि नहीं हो सकता । मैं व्योमकेश शास्त्री नहीं हूं हजारीप्रसाद द्विवेदी हूं । जब पं० दीनानाथ शास्त्री को यह

पता चला तो और भी प्रसन्न हुए बोले मैं तुम्हें नहीं छोड़ूंगा । आना ही पड़ेगा । सत्य कहने से डरते हो ? जैसे जैसे सम्मेलन के दिन निकट आने लगे (हजारीप्रसाद जी) की धुकधुकी बढ़ती गई । उनके गुरु ने उनसे कहा- तुममें सत्य के प्रति जितनी आस्था है उससे कहीं अधिक भय और संकोच है । भय और संकोच तुम्हें सत्य का पक्ष नहीं लेने देंगे । [७६] सत्य बड़ा महसूल चाहता है । तुमने ~~तुमने~~ अपना नाम छिपाया वहीं से तुम गलत रास्ते पर चल पड़े । देखो, जब किसी की प्रतिकूल आलोचना करनी हो तो नाम मत छिपाया करो । नाम छिपाना सत्य को छिपाना है । नाम छिपाना पहली कमजोरी है फिर वह कमजोरियों को खींचती जाती है । [८०] इनके उन वाक्यों ने निबंधकार के अंतर तक को वेध दिया । उन्होंने जल्दी-जल्दी उठने का उपक्रम किया और उनकी ओर ताके बिना ही कहा- 'तो फिर यही आज्ञा है ? उत्तर मिला? 'हाँ ।' जहां वे उठने लगे तो गुरु जी बोले बैठो तो बैठना पड़ा ।' बोले मुझे प्रसन्नता है कि तुम ठीक ढंग से सोच रहे हो । पर डरा न करो । जो ठीक समझो खुल के कहो । 'सत्य अपना पूरा दाम चाहता है ।' रवीन्द्रनाथ के राष्ट्रीय गान' [८१] शीर्षक निबंधानुसार कविवर गुरु रवीन्द्रनाथ को राष्ट्रीय कवि और विद्वान के रूप में चित्रित किया गया है । रवीन्द्रनाथका संपूर्ण साहित्य संगीतमय है । इतना ही नहीं उनकी रची हुई कविताएं राष्ट्रीयगान है । उनके गान केवल ताल सुर के वाहन नहीं हैं। अर्थगांभीर्य और शब्द माधुर्य के भी आगार हैं । सुर के विच्युत होने पर भी इनके गाने प्रेरणा और स्फूर्ति देते हैं । वे सुर की धारा में एक अपूर्वपावनी शक्ति का अनुभव करते हैं । इस प्रकार सुर की धारा रवीन्द्रनाथ की दृष्टि में समस्त जीर्णता, बन्ध्यता, असफलता और क्षुद्र प्रयोजनों को बहाकर मनुष्य को सहज सत्य के सामने खड़ा कर देती है । उनकी स्वदेशभक्ति उनकी भगवत्भक्ति की विरोधिनी नहीं थी । उनके ऐसे बहुत थोड़े गान हैं जिन्हें निश्चित रूप से स्वदेश भक्ति के गान कहा जा सकता है । रवीन्द्रनाथ के सभी गान सार्वभौम हैं । रवीन्द्रनाथ ऐसे साथियों को भारमात्र समझते थे जिनका अपने लक्ष्य पर विश्वास नहीं है । ऐसे लोगों को जुटाकर केवल संख्या गिनाने के से कोई काम नहीं । साधना के क्षेत्र में चाहे वह स्वदेशसेवा की साधना हो या परम-

प्राप्तव्य को प्राप्त करने की अधकचरे साधी बाधा ही हैं। क्योंकि साधना का क्षेत्र विपत्तियों से जूझने का क्षेत्र है। रवीन्द्रनाथ लक्ष्य प्राप्ति को इतनी बड़ी बात नहीं मानते। मनोवांछा पूरी हुई या नहीं, इसका हिसाब दुनियादारी के लोग किया करते हैं। कवि इसकी परवा नहीं करता। सत्य के मार्ग में चल रहे हैं उनका चलना देखना देखना भी श्रेयस्कर है, पर लक्ष्य तक नहीं पहुंचे तो सारी यात्रा ही व्यर्थ हो गई ऐसा विचार रवीन्द्रनाथ को पसंद नहीं है। उन्होंने आगे गाया है-'क्या हुआ जो मैं पार नहीं जा सका। मेरी आशा की नैया डूब गई तो हर्ज क्या है वह हवा तो शरीर में लग रही है। जिससे नाव चल रही थी तुम लोगों की चलती नाव देख रहा हूं। इसी में क्या कम आनंद है ? हाथ के पास अपने इर्द-गिर्द, जो कुछ पा रहा हूं वही बहुत है हमारा दिन भर क्या यही काम है कि उस पार की ओर ताकता रहूं यदि कुछ कम है तो प्राण देकर उसे पूरा कर लूंगा। मेरा कल्पलता वही है जहां मेरा कुछ दावा हो।'[८२] -'ओ अभागे मनुष्य ! हो सकता है कि तेरे अपने ही लोग तुझे कर्ने छोड़ दें, लेकिन इसकी चिंता करने से कैसे चलेगा। शायद तेरी आशालता टूट जायेगी और उसमें फल नहीं फलेगा। पर इसीलिए क्या तू रुक जाएगा। अरे ओ(अभागे) तुझे बार-बार बत्ती जलानी पड़ेगी और फिर भी शायद वह नहीं जलेगी। तेरी बुव प्रेमवाणी सुनकर जंगली जानवर तक चले आएंगे और फिर भी कि ऐसा हो सकता है कि तेरे अपने लोगों का पाषाण हृदय न पिघले। लेकिन इसीलिए चिंता करने से क्या चलेगा।'[८३] इस तरह रवीन्द्रनाथ जी ने ऐसे अनेक काव्य लिखे हैं जिनमें हम राष्ट्रीयता का आभास पाते हैं। इतना ही नहीं उनका विधान रूप भी प्रकट होता है।

जीवन की उच्छल प्राणधारा में उनका अडिग विश्वास था। जहां यह उच्छल प्राणधारा है वही मनुष्य का सर्वत्र है - वही आशा है। चाहे शिक्षा का क्षेत्र हो, चाहे वाणिज्य व्यवसाय का, प्राण की उच्छलधारा ही प्रधान वस्तु है। युद्ध विग्रह का उन्होंने कसके विरोध किया था। क्योंकि यह भय से, मोह से,

लोभ से विकृत मानव का उन्माद है। युद्ध में यद्यपि मनुष्यता अपार कष्ट में फंस जाती है। पर मरती वहां मृत्यु है। जीतता जीवन है। सन् १९१४ के ~~पचीसोत्ते~~ पौषोत्सव के प्रवचन में उन्होंने कहा था, हम जब यहां आनन्दोत्सव मना रहे हैं। वहां इसी प्रलय की विभीषिका पर खड़ा होकर मनुष्य अपने मनुष्यत्व का प्रचार कर रहा है। इतिहास ने पुकारा है वह सही है। मनुष्य राष्ट्रीय दानव के पद तल में इतने दिनों से नरबलि का उद्योग कर रहा है। राष्ट्रीयता के दानव के प्रति रवीन्द्रनाथ के मन में बहुत कठिन क्रोध था। युद्ध से वे विचलित नहीं हुए थे। उन्हें विश्वास था कि इस विकट संकट के बाद संकीर्णता की दीवार टूटेगी। संसार के सभी पापों का प्रायश्चित नहीं हो सका था। नवीन शक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ, पूर्व गगन में भयंकर रंगों के भीतर से नवीन ज्योतिलेखा का दर्शन हुआ, परन्तु संसार में जिस उपादेयता के मंदिर को देखकर रवीन्द्रनाथ इतने विचलित हुए थे उनके मंदिर की सब दीवारें नहीं टूट सकी। मनुष्य ने वास्तविक प्राणशक्ति की यदि उपेक्षा की है तो वह विनाश के गड्ढे में गिरेगा ही, विधाता की ओर से यह अभिशाप मिल चुका है और विधाता कौन है? स्वयं मनुष्य को नानारूपों में उपस्थित कर रही है। मूर्त देवता के रूप में देखते थे। प्राण की उपेक्षा करके जीवित रहने की आशा आत्मवंचना है। रवीन्द्रनाथ ने गाया था-"अरे भाई, मिट्टी की ओर लौट, वह मिट्टी जो आंचल फैलाकर तेरे मुंह की ओर देख रही है। जन्म और मरण उसी के हाथ के अलक्ष्यसूत्रों में गूंथे है। उसी के हृदय की विगलित वारिधारा आत्मविस्तृत हो समुद्र की ओर छूटती है और वहां से प्राणों का सन्देश वहन कर आती है।" साहित्य में कला में, वाणिज्य में, राजनीति में विचारों में, आचारों में सर्वत्र वही मृत्यु की काली छाया स्वयं आ जाती है। साम्राज्य बनते हैं और बिगड़ते हैं जय डंका बजता है और रुकता है, विजय पताका लहराती है और झुकती है परन्तु जीते हैं वही जो मिट्टी से सम्बद्ध है। जो प्राणशक्ति से समन्वित है, यही मनुष्य की आशा है। यही वह मिट्टी से बिछुड़ा नहीं है। यही उसकी प्राणधारा अबाध गति से बह रही है। रवीन्द्रनाथ ने यही विश्वास जगाया था वहीं उन्होंने जीवन सौन्दर्य देखा था।

भावात्मक भाषा शैली :

इस प्रकार की शैली में भावों का वेगवान प्रवाह रचनाकार को अपने साथ बहा ले जाता है । रचनाकार की भाषा में भावों के अनुकूल ही वेग, उद्दामता, प्रवाह चंचलता आ जाती है भाषा में लय और लालित्य भावों के कारण ही उपस्थित होते हैं । यह स्वाभाविक है कि भावविभोर रचनाकार बुद्धि और तर्क से जरा कट-छंटकर चले । क्योंकि अपनी प्रामाणिक भावाभिव्यक्ति में वह उन्मुक्त हो जाता है । पाठक के साथ अधिक निकट का सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है । भावात्मक शैली से युक्त निबंध की भाषा गीत के समान लयबद्ध कभी बिखरी हुई, कभी अस्पष्ट, कभी छन्दोमय, कभी निजी बातचीत के समान होती है । आत्मीयता को उसका मुख्य वैशिष्ट्य मानना चाहिए । परंतु केवल भाषा का स्वच्छन्द विकास भावात्मक शैली नहीं, न भाषा का भावों के पीछे अन्धरूप में भागना उस शैली के योग्य माना जाता है । डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है कि 'वह पागल-प्रलाप नहीं । वह एक भावुक स्वस्थ हृदय का आत्मनिवेदन है ।' इसी तरह व्यक्तिपरक या वैयक्तिक निबंधों की शैली को भी हम भावात्मक शैली में ही समाविष्ट पाते हैं । यह शैली पाठकों को उनके व्यक्तित्व से जुदाकर लेखक के व्यक्तित्व में विलीन कर देती है । लेखक पाठक की तल्लीनता ही इस शैली की यशस्विता है ।

'वह चला गया', 'महापुरुष के प्रयाण के बाद', 'अशोक के फूल', क्या आपने मेरी रचना पढ़ी', 'आम फिर बौरा गये', 'नाखून क्यों बढ़ते हैं ?', 'कुटज', 'जब दिमाक खाली है', 'वसन्त आ गया', 'मेरी जन्मभूमि', 'ठाकुर जी की बटोर', 'हमें गतिशील चिंतन', 'सत्य का महसूल', 'पंडितों की पंचायत' आदि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी के भावात्मक शैली से युक्त निबंध है । लेखक के 'मन की मुक्त भटकन' इन निबंधों में वह भावरस उडेल देती है जो हमारे हृदय और मस्तिष्क को केवल लुभा ही नहीं लेता, अनेक स्थानों पर सोच में डुबोकर छोड़ भी देता है । भावात्मक शैली के दो स्तर स्पष्ट रूप से इन निबंधों में दिखाई देते हैं । एक वह जिसमें प्रलाप एवं नाटकीयता है

तथा दूसरी वह जो आवेगमयी है परन्तु अत्यन्त आकर्षक, संयत, उच्चस्तरीय, एवं संदर्भमय है। उद्गमयुगीन भावात्मक शैली 'हा', 'अहा', 'हाय-हाय', 'धन्य-धन्य' के सम्बोधनात्मक उद्गारों से आक्रान्त ~~कर~~ थी। इस शैली का वह रूप कुछ स्थानों पर द्विवेदी जी में भी दृष्टव्य है। उदाहरण के लिए - 'मैंने फिर एक बार दीर्घ श्वास के साथ मन ही मन कहा-' हायरे हिन्दू और हाय रे मुसलमान। 'हाय, जो महापुरुष चला गया, उसने इस रहस्य को समझा था, 'हाय', हतभाग्य भारतवर्ष तू आज शोच्य है।'[८४] इत्यादि। भावुकता की पर्तों में विचारों के बहुमूल्य खजाने उनकी ललित शैली ने दबा रखे हैं। 'आम फिर बौरा गये' में आमों पर विचार प्रकट करते करते वे मानवीय इतिहास में होनेवाली लोकप्रवादों की महत्ता तक पहुंच जाते हैं। 'नाखून क्यों बढ़ते हैं' में मनुष्य की जन्मजात पशुवृत्ति के उद्भव विकास और संस्कार की कहानी पिरोयी गयी है। निबंध लेखक की कन्या के निष्पाप प्रश्न से शुरू होता है और बृहतर जीवन में बढ़नेवाली अस्त्र-शस्त्र की ताकत का निषेध करते हुए समाप्त हो जाता है। 'जब दिमाग खाली है' में भारतीय संस्कृति के अभाव उपलब्धियों का लेखा-जोखा खुलता है। 'एक हींग बेचनेवाले पठान द्वारा रवीन्द्रनाथ जी के विषय में पूछे गये इस प्रश्न के साथ कि' वे कौन हैं ?। इसाई, मुसलमान या हिन्दू ? लेखक का मन ~~वि~~ तिलमिला उठता है। 'इस अभागे देश में जो ~~मसु~~ मुसलमान भी नहीं, ईसाई भी नहीं, वह हिन्दू होता है। यह पठान युवक पाणिनि और यास्क का वंशज है। पर चूंकि वह मुसलमान है इसलिए यह हिन्दू नहीं। इसके पूर्वजों ने वैदिक साहित्य के अनमोल अंश का सम्पादन किया था, पर चूंकि वह मुसलमान है, इसलिये वह हिन्दू नहीं और इसलिये उसके लिये वह साहित्य कुछ है।'[८५] 'कुटज' द्विवेदी जी के लिए केवल एक वृक्ष नहीं रहता वह अपराजेय जीवनशक्ति और संघर्षरत मानव का प्रतीक बन जाता है।' कुटज क्या केवल जी रहा है ? वह दूसरे के द्वार पर भीख मांगने नहीं जाता, कोई निकट आ गया तो भय के मारे अधमरा नहीं हो जाता, नीति और धर्म के उपदेश नहीं देता फिरता, अपनी उन्नति के लिये अफसरों का जूता नहीं चाटता फिरता, आत्मोन्नति के हेतु नीलम नहीं धारण करता-----शान से जीता है।'[८६]

"अशोक के फूल" और "बसन्त आ गया" में क्रमश: अशोक का समग्र भारतीय साहित्य में होनेवाले स्थान का भावात्मक वर्णन है, तो अन्य निबंध में कचनार के वृक्ष को अनफूला देखकर मन में उठनेवाली भावना तरंगों का वर्णन है। "ठाकुर जी की बटोर", "गतिशील चिंतन", "सत्य का महसूल", "पंडितों की पंचायत" में समाज के विभिन्न स्तरों में पलनेवाली विविध प्रकार की विषमता का भावभीना वर्णन है। द्विवेदी जी की भावात्मक शैली भाव और भाषा की दृष्टि से जितनी समृद्ध है, संदर्भों में उतनी ही सम्पन्न है। वे कभी आम्रमंजरी को देखकर उल्लासित हो उठेंगे- "आहा कैसा मनोरम प्रेरक है। बलिहारी है इस "आताम्रहरित पांडुर" शोभा की"। अभी सुगन्धि नहीं फैली है। किन्तु देर भी नहीं है।"[८७] कचनार को फूला हुआ देखकर स्वयं आनंदित हो उठेंगे, तो "विष्णुकांता" का खिलना उन्हें उत्साह और उत्सुकता से भर देगा- "कैसा मनोहर नाम है। फूल और भी मनोहर होते हैं। जरा सा तो आकार होता है, पर बलिहारी है उस नील मेंदुर रूप की, बादल की बात छोड़िए, जरा सी पुरवैया बह गयी तो इसका उल्लास देखिये। बरसात के समय तो इतनी खिलती है कि मत पूछिये।"[८८] कभी परस्पर दो विरुद्ध बातों को आमने-सामने रखकर बड़े भोले भाव से कहेंगे -"जरा तुक मिलाइये। आम्रमंजरी मदन देवता का अमोघ बाण है और बिच्छू मदन विध्वंसी महादेव का अचूक बाण है। योगी ने भोगी को भस्म कर दिया। पर भोगी का अस्त्र योगी के अस्त्र को व्यर्थ बना रहा है। कुछ ठिकाना है इस बेतुकेपन का। परन्तु सारी दुनिया यानी बच्चों की दुनिया। इस बात को सच मानती आ रही है।"[८९]

"सारा देश आपका है। भेद और विरोध ऊपरी है। भीतर मनुष्य एक है। इस एका को दृढ़ता के साथ पहचानने का यत्न कीजिए। जो भेदभाव को पकड़कर ही अपना रास्ता निकालना चाहते हैं वे गलती करते हैं। विरोधी रहे हैं तो उन्हें आगे भी बने ही रहना चाहिये, यह कोई काम की बात नहीं हुई, हमें नए सिरे से सब कुछ गढ़ना है तोड़ना नहीं है टूटे को जोड़ना है।"[९०] जिन बातों को मैं अत्यन्त मूल्यवान समझ रहा हूं और जिनके प्रचार के लिए चिल्ला-चिल्लाकर गला ~~सूख~~ सुखा रहा हूं उनमें

कितनी जियेंगी और कितनी बह जायेंगी कौन जानता है मैं क्या शोक से उदास हुआ हूं। माया काटे नहीं कटती। उस युग के साहित्य और शिल्प मन को मसल दे रहे हैं। अशोक के फूल ही नहीं किसलय भी हृदय को कुरेद रहे हैं।'[६१] बच्चे कभी-कभी चक्कर में डाल देनेवाले प्रश्न कर बैठते हैं। अल्पज्ञ पिता बड़ा दयनीय जीव होता है, मेरी छोटी लड़की ने जब उस दिन पूछ दिया कि - आदमी के नाखून क्यों बढ़ते हैं, तो मैं कुछ सोच ही नहीं सका। हर तीसरे दिन नाखून बढ़ जाते हैं। बच्चे कुछ दिनों तक अगर उन्हें बढ़ने दें, तो मां-बाप अक्सर उन्हें डाटा करते हैं, पर कोई नहीं जानता कि ये अभागे नाखून क्यों इस प्रकार बढ़ा करते हैं। काट दीजिए, वे चुपचाप दंड स्वीकार कर लेंगे, पर निर्लज्ज अपराधी की भांति फिर छूटते ही सेंध पर हाजिर, आखिर ये इतने बेहया क्यों हैं।'[६२]

वर्णनात्मक भाषा शैली :

सहज तथा सरल भाषा में विभिन्न वस्तुओं, दृश्यों, या पदार्थों के वर्णन में इस शैली का उपयोग किया जाता है। प्राकृतिक उपकरणों या भौतिक पदार्थों का केवल परिचय करा देना या उल्लेख करना इतना ही कार्य प्रस्तुत शैली का नहीं होता। वह वस्तुओं या घटनाओं या दृश्यों का वर्णन तो करेगी ही पर उस वर्णन में एक आत्मीयतापूर्ण सरसता भी उड़ेल देगी। कोई तीव्र अनुभूति, कोई भावनिक विस्फोट, कोई गूढ़ तत्वचिंतन इस शैली द्वारा प्रस्तुत नहीं होता। मुख्यत: सरस कल्पना तथा सरल भाषा का आश्रय लेकर हर रोज दिखाई देनेवाले सर्व परिचित साधारण विषयों को रोचक आकर्षक ढंग से प्रस्तुत करना इतना ही काम इस शैली का होता है। जिन निबंधों में द्विवेदी जी ने शुद्ध परिचयात्मक भूमिका ग्रहण की है उन्हें अधिक संज्ञप्त और वस्तुमुखी होना स्वाभाविक ह भी है क्योंकि वहां बहुत सी सामग्री को संक्षेप में रखने की आवश्यकता पड़ती है। जिसके कारण लेखक अधिक विषयांतर नहीं कर सकता। उदाहरण के लिये-'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में आये हुए संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त परिचय, बौद्ध साहित्य, बौद्ध संस्कृत साहित्य,

जैन साहित्य, कवि प्रसिद्धियां और स्त्रीरूप शीर्षक निबंध मुख्यत: आकलनात्मक हैं। 'भारत के कलात्मक विनोद' शीर्षक पुस्तक में द्विवेदी जी ने भारतीय साहित्य में बिखरी हुई कलात्मक विनोद की सामग्री को एकत्र करने का प्रयास किया है।

'शिरीष के फूल', 'आम फिर बौरा गए', 'ब्रह्माण्ड का विस्तार', 'वसन्त आया', 'देवदारु', 'अशोक के फूल' आदि वे निबंध हैं जिनमें वर्णनात्मक शैली का सफल प्रयोग हुआ है। इन निबंधों में वर्णनात्मकता, भावात्मकता, कल्पना एवं विचार घुल-मिलकर चलते हैं। लेखक के मन पर पड़े हुए प्रकृति के प्रभाव का अनेक मुखी रूपचित्रण इन निबंधों में हुआ। वस्तु की वर्णन बारीकी और ~~सूक्ष्मता~~ सूक्ष्मता के साथ, उसके अतीत के मनोरम इतिहास एवं वर्तमान की स्थिति का जो चित्रण द्विवेदी जी ने किया वह बेजोड़ है। यथा-'शिरीष के वृक्ष बड़े छायादार होते हैं। पुराने भारत का रईस जिन मंगलजनक वृक्षों को अपनी वृक्षवाटिका की चहारदीवारी के पास लगाया करता था उनमें एक शिरीष भी है। अशोक, अरिष्ट, पुन्नाग और शिरीष के छायादार और घने मसृण हरीतिमा से परिवेष्टित वृक्ष वाटिका जरूर बड़ी मनोहर दिखती होगी। वात्स्यायन ने (कामसूत्र में) बताया है कि वाटिका के सघन छायादार वृक्षों की छाया में झूला लगाया जाना चाहिए। यद्यपि पुराने कवि बकुल के पेड़ में ऐसी दोलाओं को लगा देना चाहते थे। पर शिरीष भी क्या बुरा है। डाल इसकी अपेक्षाकृत कमजोर जरूर होती है। पर उसमें झूलनेवालियों का वजन भी तो बहुत ज्यादा नहीं होता।'[९३] द्विवेदी जी की वर्णनात्मक शैली केवल ब्यौरा नहीं देती। वह उसके साथ प्राचीन परम्परा के किसी सूत्र को या किसी उदात्त विचार को भी प्रकाशित कर देती है। जैसे कि-'मेरा अनुमान है कि आम पहले इतना खट्टा होता था और इसका फल इतना छोटा होता था कि इसके फल कोई व्यवहार में ही नहीं लाता था। संभवत: यह भी हिमालय के पार्वत्य देश का जंगली वृक्ष था। इसके मनोहर कोरक दिगन्त को मूर्च्छित कर देनेवाला आमोद ही लोकायित को मोहित करते थे। धीरे-धीरे यह फल मैदान में आया। मनुष्य के हाथ रूपी पारस से छूकर यह

लोहा भी सोना बन गया है । गंगा की सुवर्णप्रसू मृत्तिका ने इसका कायाकल्प कर दिया है । मैं आश्चर्य से मनुष्य की अद्भुत शक्ति की बात सोचता हूं ।------मनुष्य इस विश्व का दुर्जेय प्राणी है ।[९४] आत्मीयता एवं भावुकता से युक्त यह शैली कल्पना के सहारे वर्णित अचल वस्तु को भी सजीव स्पन्दनशील बना देती है । यथा-'अशोक किसी कुशल अभिनेता के समान जम के रंगमंच पर आता है और दर्शकों को अभिभूत करके खप से निकल जाता है ।[९५] ----------- रात सचमुच ही जीवंत पदार्थ है । वह सांस लेती हुई जान पड़ती है । उसके अंग-प्रत्यंग में कंपन होता रहता है । वह प्रसन्न होती है, उदास होती है, धुंधुला जाती है, खिल उठती है, धीरे-धीरे लेकिन निस्सन्देह वह करवट बदलती रहती है सो जाती है, जाग उठती है ।[९६] द्विवेदी जी की वर्णनात्मक शैली में भाषा सरल, प्रवाही, एवं संयत विचारों से युक्त है । भावात्मकता के कारण उसमें क्षिप्रता एवं गति है, तो कल्पना के कारण वह आकर्षक एवं स्मरणीय बन गयी है । मूर्ति विधायिनी शक्ति से युक्त यह शैली वर्णन की यथा तथ्यता, कल्पना की दूरगामी उड़ान एवं सहज विचार तरंगों के कारण उच्चकोटि का काव्यात्मक आनंद प्रदान करती है ।

विवरणात्मक भाषा शैली :

इस शैली का मुख्य वैशिष्ट्य है कथात्मकता । इसके सहारे वस्तुओं, घटनाओं का विवरण इस ढंग से प्रस्तुत किया जाता है कि आंखों के सामने वे साक्षात् खड़ा हो जाय । निबंधकार इस शैली का आधार लेकर कल्पना और अनुभूति द्वारा घटनाओं का विवरण कराता जाता है । घटनाएं युद्ध की हो, शिकार की हो, यात्रा की हो, इतिहास की हो या कल्पना की हो । विवरणात्मक शैली को ~~व्यक्तिविहीन नहीं माना जा सकता । व्यक्तित्वहीन~~ व्यक्तित्व विहीन नहीं माना जा सकता । व्यक्तित्व विहीन विवरणात्मक शैली केवल इतिवृत्त मात्र होगी । नीरस तथा केवल तथ्ययुक्त वृत्त को या घटना को या ठोस वस्तु को प्राणवान, सरस, हृदयंगम बनाने का कार्य यही शैली करती है । भाषा इस शैली में हल्की फुल्की और मिश्रित रहती है ।

द्विवेदी जी की समीक्षात्मक शैली सामान्यत: उनके इतिहास ग्रन्थों में और उनके कतिपय निबंधों में प्राप्त होती है । इन्हें देखने से ज्ञात होता है कि जब तक द्विवेदी जी विवरण और विश्लेषण की भूमि पर रहते हैं तब तक उनकी समीक्षा संयत रहती है । ऐसे निबंधों में द्विवेदी जी प्राय: प्राचीन विचारों का संदर्भ लेकर समीक्षा करते हैं । द्विवेदी जी अपने समीक्षात्मक उत्कर्षों में अनेक बार बहुत ही सटीक निर्णय देते हैं । परन्तु विवेच्य विषय की समग्रता और विवेचन प्रणाली की अनुक्रमिकता द्विवेदी जी की प्रियप्रक्रीया नहीं जान पड़ती है ।

विवरणात्मक शैली में लिखा गया उनका एक निबंध ही उल्लेखनीय है `केतुदर्शन` सचेत कल्पना एवं अनुभूति के सहारे इसमें आकाश में कभी कभार दिखाई पड़नेवाले पुच्छलतारे का विवरण प्रस्तुत किया गया है । प्रकृति से निरन्तर प्रेम करनेवाले, ज्योतिष शास्त्र के ज्ञाता आचार्य द्विवेदी जी के व्यक्तित्व की झांकी इस निबंध में भी यथातथ्य रूप में मिलती है । पुच्छल तारे के उदय के साथ लेखक के मनोभाव भी जाग्रत हो जाते हैं और सारी प्रकृति उन्हें ससम्बन्ध, सचेतन, लगने लगती है ।`[९७] पुच्छलतारा उनके लिए सामान्य जनों की तरह केवल कुतूहल या भय की वस्तु नहीं है अध्ययन की वस्तु है- जैसे कि `यह हस्त नक्षत्र उदित हुआ पांचों अंगुलियां साफ दीख रही है । इसके पास ही कुहासे सा दिखाई दिया । धूमकेतु की यह पूंछ थी । हिंदी में इसे पुच्छलतारा कहा जाता है । इसलिए मैं भी इस झाड़नुमा पताका को पूंछ कह रहा हूं । असल में पूंछ नहीं है । प्राचीन आचार्यों ने `पुच्छलतारा` को केतु(पताका) धूमकेतु (धूएं की पताका) और शिखी(चोटीवाला) कहा है । यही उचित भी है क्योंकि आधुनिक शोधों से प्रमाणित हो गया है कि जिसे पूंछ कहा जाता है, वह वास्तव में शिखा या चोटी है ।[९८] व्यंग्य के लिए विवरणात्मक शैली में अपेक्षाकृत अधिक स्थान रहता है अपने व्यंग्य का प्रयोग यहां भी आचार्य द्विवेदी जी ने बड़ी ~~नि~~ मार्मिकता ~~से~~ के साथ किया । `मेरा मन, लेकिन इस धूमकेतु को देखकर सन्नाटे में आ गया-----भय के हेतु होने में उतना डर नहीं है । डर यह है कि हस्त नक्षत्र वाला केतु दण्डकारण्य के राजा का नाश कर डालता है । ----- मुझे आशंका हुई कि दण्डकारण्य कहीं

हैदराबाद की रियासत तो नहीं है। बुरा मैं किसीका नहीं सोचना चाहता भगवान करे, दण्डकारण्य भूगोल में कहीं हो ही नहीं।'[९९]

हास्य व्यंग्यात्मक भाषा शैली :

भाषा और विचार की ताकत सबसे अधिक कारगर अगर कहीं सिद्ध होती हों तो वह हास्य व्यंग्यात्मक शैली में। इसी शैली का आधार लेकर लेखकों ने और निबंधकारों ने व्यक्ति की और समष्टि के समस्त बुराइयों की दाम्भिकता की, आडम्बर की, मूर्खता की, खाल उधेड़कर रख दी। सघन तीव्र जहाल विचारों को जब व्यंग्यात्मक भाषा की शान पर चढ़ाकर प्रस्तुत किया जाता है तो उसके आघात से आहत लक्ष तिलमिला उठता है। हास्य व्यंग्यात्मक शैली वह नश्तर है जो गली, सड़ी गन्दगी से युक्त जड़ चीजों को काटने का कार्य करती रहती है। द्विवेदी जी की शैली की समग्रता में हास्य-व्यंग्य और विनोद का यथेष्ट स्थान है। कहा जा सकता है कि वे इति-वृत्तात्मकता को पसन्द नहीं करते। दो चार वाक्य विषय परिचय के देते ही वे झट से किसी वक्रोक्ति या विनोद पर आ जाते हैं। और फिर अपने विषय पर आगे बढ़ चलते हैं। यदि बीच-बीच में ये वक्रोक्तियां न होती तो द्विवेदी जी की शैली में रोचकता की कमी रह जाती और वे एक अधिक वस्तुमुखी विचारक माने जाते या - साहित्यिक की अपेक्षा शास्त्रज्ञ कहे जाते। जहां पर द्विवेदी जी को अधिक स्वच्छन्द होकर अपनी बात कहने का अवसर मिला है वहां वे अपने वक्तव्यों में और भी अधिक वाग्वैचित्र्य का प्रदर्शन करते हैं। 'अशोक के फूल' में वे लिखते हैं, वे सामन्त उखड़ गये, साम्राज्य बह गये और मदनोत्सव की धूमधाम मिट गई। संतान कामिनियों को गन्धर्वों से अधिक शक्तिशाली देवताओं का वरदान मिलने लगा। पीरों में भूत-भैरवों की काली दुर्गा ने यक्षों की इज्जत घटा दी। दुनिया अपने रास्ते चली गई -अशोक पीछे छूट गया।'[१००] इन वाक्यों में द्विवेदी जी ने सामंतवादी सभ्यता का पतन और खेद प्रकट किया है और उसके बाद आनेवाले पीरों और भूत-भैरवों की नयी धार्मिकता के प्रति एक वितृष्णा प्रकट की है। परन्तु उनके वाक्य किस रूप में आये हैं। जिससे उनके

हार्दिक मनोभाव का छिपे तौर पर ही विज्ञापन होता है । द्विवेदी जी की शैली में यह वक्रभंगिमा प्राय: सर्वत्र दिखाई देती है । जहां कहीं द्विवेदी जी किसी उपदेश का पल्ला पकड़ते हैं वहां भी वे अपनी विनोदवृत्ति को साथ-साथ रखते हैं । उदाहरण के लिए वे कहते हैं और इस ~~निरने~~ निरक्षर देश में प्रौढ़ शिक्षण का भाग भी शुरू करना पड़ेगा । बालकों के लिए यदि कुछ पुस्तकें मिल भी जायेंगी तो प्रौढों के लिए नहीं मिल पायेंगी । उत्साही और साहसी साहित्यिकों को इस दिशा में दृढ़ता के साथ बढ़ना चाहिये वैसे तो प्रौढ़ शिक्षण स्वयमेव यह महत्वपूर्ण वस्तु है पर हमारे देश में एक और महत्व का कार्य इसके साथ जुड़ा हुआ है । इस देश में आदिम जातियां हैं, जिनको कहा जाता है अपनी कोई लिपि नहीं । इस सम्पूर्ण वक्तव्य में द्विवेदी जी का झुकाव वर्तमान समय की बहुलता की ओर जितना अधिक है उतना उसके समाधान की ओर नहीं ।

उदाहरण स्वरूप -`कहीं भी उल्लास नहीं, उमंग नहीं और उधर कवियों की दुनिया में हल्ला हो गया । प्रकृति रानी नया श्रृंगार कर रही हैं और जाने फिर क्या ?` भाग्य की विडंबना का असल हार्दिक और हास्य सरस प्रसंग तो अब आता है, द्विवेदी जी खूसद, नादान, कमबख्त, छिर्या, जैसे बोलचाल के शव्दों से गंभीर वातावरण में भी शव्द संलाप की संजीवनी और विनोद का रस भर देने के लिए कचनार के वृक्ष को लेकर कहते हैं-`मेरा वाला ज्यादा स्वस्थ और सबल है । पडोसी वाला कमजोर, मरियल परंतु इसमें फूल नहीं आए और उसमें कमवख्त कंधे पर फूट पड़ा है ।`[१०१]----------

`मैं रोज देखता हूं कि हमारेवाला मिया कितने अग्रसर हुए, कल तीन फूल निकले थे । उनमें दो एक संथाल वालिका तोड़कर ले गयी ।[१०२] नियति के व्यंग्य और संथाल बालिका में निहित रूमान दोनों का लाभ मिल जाता है । महत्व के विर्पयय द्वारा हास्य उत्पन्न करने की कला का नमूना देखिए-`मुझे कचनार की ललाई बहुत भाती है । सब से बडी बात यह है कि इन फूलों की पकौडियां भी बन सकती हैं ।[१०३] कवि और जिन्हवारसिक दोनों की `निबंधकार के व्यक्तित्व में`। यह स्थिति कितनी मनोरंजक है और `निष्कर्ष का हास्य कितने सहज ढंग से स्पष्ट हो जाता है ।`पर/दुर्भाग्य देखिए- कि इतना स्वस्थ

पेड़ सूनापन हुआ है और वह कमजोर, दुबला लहक उठा है। कमजोरों में भावुकता ज्यादा होती है।`[१०४] बात कहां से कहां चली गयी, दिशा और दृष्टि के आकस्मिक विप्लववाले चमत्कार की हद है। निबंधकार को परिचय और आत्मीय संवाद की ध्वनि की सिद्धि सी है।

द्विवेदी जी तथ्यों का विन्यास ही ऐसा करते हैं कि अर्थ का अंतरंग हास्य की भंगिमा के साथ अनायास उद्घाटित हो जाता है -----`सारी दुनिया में हल्ला हो गया है कि वसन्त आ गया है और मेरे पास बुखार।`[१०५] यह है व्यंग्यमयी परिस्थिति का अपनी पूरी चारुता के साथ अट्टहास और ऐसी परिस्थिति सहानुभूति की व्यंजना में अचानक डूब जाती है-`अपने कचनार की ओर देखता हूं और सोचता हूं मेरी ही वजह से तो यह नहीं रुका है ?` शृंगार, हास्य और करुणता मिश्रित भावों की और विचारों की ऐसी त्रिवेणी कहां मिलेगी ?`एक कुत्ता और एक मैना` निबंधकार द्विवेदी जी की अविस्मरणीय कृतियों में है किन्तु जैसे कालिदास के शाकुन्तल नाटक में कण्व के आश्रम में शकुन्तला की विदाई को हटा दें तो नाटक इतिवृत्तात्मक हो जाता है। उसी तरह इस निबंध में से यदि मैना दम्पति प्रसंग निकाल लें तो यह भी इतिवृत्तात्मक होकर रह जायगा। प्रौढ़ जैसे शिशुओं के दर्पस्फित वक्ष और विजयवाहिनी को देखकर आनंद लेते हैं वैसे ही मैना दंपति के इस प्रसंग से निबंधकार और पाठक को रस मिलता है। रूप-से सबसे बड़ी बात तो यह है कि ये जीव जब प्रमाद और बालोचित अज्ञान में बड़ों को नगण्य समझते हैं तब मजा आ जाता है। आदमी को यह अभिमान रहता है कि घर में घोंसला बनाने की अनुमति देकर वह पक्षियों पर एहसान करता है। द्विवेदी जी के मैना दंपति इसीलिए विरल और विशिष्ट है कि वे सभ्य मनुष्य को ही अवैध प्रवेशक मानते हैं। उनके विचार सुनिए-

पत्नी- ये लोग यहां कैसे आ गए जी ?

पति- उंह, बेचारे आ गए हैं, तो रह जाने दो (क्या कर लेंगे)

पत्नी- लेकिन फिर भी इनको इतना ख्याल होना चाहिए कि यह हमारा प्राइवेट घर है ।

पति- आदमी जो है, इतनी अकल कहां ?` इस उदाहरण में 'तो रह जाने दो` में श्रेष्ठता की भावना और दया का दंभ । क्या कर लेंगे ?` में अपनेको आश्वासन और मनुष्य को चुनौती, हमारा प्राइवेट घर है` में तथ्य का विपरीत कथन`आदमी जो है । इतनी अकल कहां ?` में विकास के इतिहास पर नई सापेक्षतावादी दृष्टि है । सब कुछ प्रथम कोटि के व्यंग्य निष्णात काव्य ~~स्र~~ स्रष्टा की उपलब्धि है ।

गंभीरता के साथ ही निबंधों में व्यंग्य की गुदगुदी भी मिलेगी- पांडित्य के बोझ से बोझिल होकर पाठक को उबना नहीं पड़ता वह पांडित्य और गंभीरता की धार में जहां डूबकर घबडाने लगा वहीं उसे व्यंग्य और हास्य का मजबूत सहारा मिल जाता है जिससे उसे वह अखरता नहीं है । `सरसता, सरलता और विद्वता का विरल संयोग निबंधकार द्विवेदी में मिलता है । -----सरलता के साथ व्यंग्य और विनोद का परिष्कृत भावना द्विवेदी जी के व्यक्तित्व का अविच्छेद अंग है ।`[१०६] व्यंग्य विनोद के अनेक अंश उनके निबंधों में सहजता से मिल जाते हैं -`पंडित जी ने जूता उतार दिया, वह गायत्री मन्त्र के पाठ में बाधक था । झमाझम गायत्री पढने लगे । देवदास की लकड़ी मुट्ठी में थी । बेचारा मुंहकट्टा त्राहि त्राहि कर उठा । अबकी बार छोड़ दो पंडित जी, ~~मस्त~~ पहचान नहीं सकता था । अब फिर गलती नहीं होगी । आज मैं तुम्हारा गुलाम हुआ । इसी प्रकार - मगर कुछ लोग ऐसे होते हैं उन्हें -`सबै धान बाईस ~~मस~~ पसेरी` दिखते हैं । वे लोग सभी को एक जैसा ही समझते हैं । अपने लिए वह खूसट, वह सुत्त, वह सनकी, वह ~~झि~~झिझोंटा, वह झबरैला, वह चपट गैंगा, वह गदरौना, वह खिटखिटा, वह झक्की, वह फुरैला, वह छोकरा, वह नटखटा, वह चुनमुनाहत्, बांकुरा, वह चौरंगी सब समान है ।`[१०७]

~~मेरुदण्ड~~

विचारात्मक भाषा शैली :

विचारात्मक शैली का मुख्य आधार विचार ही है । बुद्धि जब किसी तथ्य का उद्घाटन, विवेचन, तर्क-वितर्क या विश्लेषण द्वारा प्रस्तुत करती है तो विचारात्मक शैली का ही आश्रय लेती है । बौद्धिक विवेचन की अधिकता इस शैली का वैशिष्ट्य है । इसीलिये इसे ही विवेचनात्मक भी कहा जाता है । इस शैली से युक्त निबंधों की भाषा में कसाव होगा, संक्षिप्तता होगी, बौद्धिकता होगी । अमित अर्थ आखर थोड़े से गुण से युक्त यह शैली विचारों के प्रतिपादन और विचारों के जागरण का ही मुख्यत: कार्य करती है । जैसा कि सोचा जाता है इस शैली में भी लेखक का व्यक्तित्व लोप नहीं हो जाता । मार्मिक विवेचन, तर्कपद्धति, विचार प्रतिपादन खण्डन-मण्डन तथा बौद्धिक गांभीर्य के पार्श्व से लेखक का वह व्यक्तित्व खड़ा दिखाई पड़ता है जो अर्जित ज्ञान, चिन्तन एवं प्रतिभा से मंडित रहता है । आचार्य द्विवेदी जी ने कुछ शोधग्रन्थ भी लिखे हैं जिनमें से हिन्दी साहित्य का आदिकाल, मध्यकालीन धर्मसाधना, नाथ सम्प्रदाय और कबीर प्रमुख है । इन चारों ग्रन्थों में द्विवेदी जी की शैली अपेक्षाकृत अधिक संयत है । परन्तु फिर भी नितांत वस्तुमुखी नहीं बन सकी है । द्विवेदी जी के व्यक्तित्व में जो सहजता, उल्लास का भाव है वह बार-बार उभरकर उनकी कृतियों में आता है । विशुद्ध वैचारिक विषय स्थापन में भी द्विवेदी जी अपनी तरल शैली को नहीं छोड़ पाते । द्विवेदी जी की यह रोचक शैली साहित्य के लालित्य की तो सृष्टि करती है पर इसके द्वारा समग्र बौद्धिक विवेचन में कठिनाई आती है । इसी प्रकार के अपने वैचारिक निबंधों में इतने वर्णनात्मक हो जाते हैं कि उनके वैचारिक निबंध आख्यानात्मक प्रतीत होने लगते हैं । ऐसा जान पड़ता है कि वे अपने पाठक को अपने साथ रखने के निमित्त इस आकर्षक शैली को अपनाते हैं । दूसरे शब्दों में उनका ध्यान केवल विषय की ओर न रखकर पाठक की रुचि-अरुचि की ओर भी रहा करता है । यह द्विवेदी जी की सहजता की अभिरुचि का ही परिणाम है कि वे अपने वैचारिक निबंधों में भी वर्णनात्मक या कहानी सी शैली का प्रयोग करते हैं और वस्तुमूलक वर्णनों में भी काव्यात्मकता लाने का प्रयत्न करते हैं।

द्विवेदी जी के वैचारिक निबंधों में अनुमान का आश्रय भी कम नहीं लिया गया है। ऐतिहासिक चर्चा में वे अनेक बार सामान्य अनुश्रुतियों को प्रामाणिकता देने लगते हैं। और तथ्यमूलक पद्धति से दूर चले जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार द्विवेदी जी के साहित्यिक आकलनों में कल्पना और अनुमान का प्रचुर योग रहता है। उनके विचारात्मक ग्रन्थों की शैली विशुद्ध विचारात्मक नहीं कही जा सकती। परन्तु उपर के विवेचन का यह अर्थ नहीं है कि द्विवेदी जी की इन शोधात्मक और विचारात्मक कृतियों में तथ्यमूलक शैली का नितान्त अभाव है। जब कभी वे इधर-उधर से हटकर अपने विषय को प्रमाणयुक्त बनाना चाहते हैं तब वे ऐतिहासिक वृत्त का समुचित उपयोग भी करते हैं। जहां इतिहास उनका साथ नहीं देता अर्थात् जहां ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध नहीं रहती वहां द्विवेदी जी अनुमान का आश्रय लेते हैं। शोध के क्षेत्र में द्विवेदी जी का उद्देश्य भारतीय संस्कृति के अंधकारमय युगों को प्रकाश में लाना है। शोध के लिए उनका लक्ष्य नहीं है वैसी स्थिति में यदि उनके शोधात्मक एवं विचारात्मक ग्रन्थों में विशुद्ध शोध की शैली नहीं अपनाई गई तो हमें आश्चर्य नहीं करना चाहिये। कुल मिलाकर विचारात्मक शैली से युक्त निबंधों में प्रकट होनेवाला उनका व्यक्तित्व बड़ा दुर्निवार निदुमिया के प्रेम की तरह गंभीर पर सदैव स्त्रयमान, पर्युत्सुक, महाकाल की सदस्यलीला से उन्मथित शास्त्र को लोक से जोडने के लिए व्यग्र, संस्कृत को हिन्दी पर न्यौछावर करने के लिए उत्कंठित और राष्ट्र मनुष्य से असमंजस करने के लिए चिंतित है।`[१०८] वह मनुष्य के हर अनुभव को छेडता है। उसकी हर सांस्कृतिक उपलब्धि के मर्म को गुदगुदाता है और प्रकृति के हर विवर्तन को कुरेदता है और मनुष्य उसकी परंपरा और देशकाल को जोड़ने से जुगाड करता रहता है। द्विवेदी जी के निबंधों का संयोजन तंत्र इसी व्यक्तित्व का ही सहज परिणाम है इसीलिए वह सायास ढ़ला नहीं लगता इसी के सहारे साधारण सा बिम्ब जाने कितनी वस्तुओं को कितनी विचारधाराओं का माध्यम बन जाता है।[१०९] उनके साहित्य विषयक निबंध हैं जैसे कि-`साहित्य निर्माण का लक्ष्य`, `साहित्य का नया रास्ता`, `इतिहास का सत्य`, सर्वोत्तम प्रकृति साहित्य`, `साहित्यकारों का दायित्व` मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है। साहित्य मौलिकता का प्रश्न, सभ्यता और संस्कृति

THE LIBRARY Smt. HANSA MEHTA LIBRARY UNIVERSITY

विषयक निबंध के अंतर्गत, हमारी संस्कृति और साहित्य का सम्बन्ध, हिन्दू संस्कृति के अध्ययन के उपादान, संस्कृतियों का संगम, हमारी राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली, भारतवर्ष की सांस्कृतिक समस्या, भारतीय संस्कृति की देन आदि आते हैं। तीसरे प्रकार समालोचनात्मक में `महिलाओं की लिखी कहानियां`, `साहित्यिक संस्थाएं क्या कर सकती है?`। आदिकाल के अन्तंप्रान्तीय साहित्य का ऐतिहासिक महत्व, काव्यकला, रवीन्द्रनाथ के राष्ट्रीय गान, भारतीय फलित ज्योतिष, वैष्णव कवियों की रूपोपासना। शव साधना, हिन्दी तथा अन्य भाषाएं, सहज भाषा का प्रश्न, हिन्दी में शोध का प्रश्न रवीन्द्रनाथ की आशाभूमि आदि। आचार्य द्विवेदी जी साहित्य को मनुष्य की सर्वोत्तम कृति मानते हैं।[११०] जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति एवं पतन से बचा नहीं सकता, उसे स्वाधीन नहीं बनाता वह उनकी दृष्टि में साहित्य नहीं।[१११] साहित्य का मुख्य उद्देश्य है ऊंचे विचारों और श्रेष्ठ जीवन मूल्यों को ग्राह्य बनाना।[११२] मनुष्य जाति को सुन्दर से सुन्दरतर करने का कार्य साहित्य करता रहता है, अत: द्विवेदी जी की दृष्टि में साधन है साध्य नहीं। साहित्य की रचना द्विवेदी जी स्वान्त: सुखाय नहीं सोद्देश्य मानते हैं। मानव की जिजीविषा शक्ति का आद्यन्त रूप उनके सामने है। `विपत्ति और कष्ट आते हैं और चले जाते हैं, समृद्धि और धनाढ्यता फैन बुदबुद के समान कल स्त्रोत से उत्पन्न होती है और विलीन हो जाती है। साम्राज्य और धर्मराज्य उठते हैं-गिर जाते हैं, परंतु मनुष्य फिर भी बचा रहता है।[११३]

आचार्य द्विवेदी जी के व्यक्तित्व की सहजता एवं उन्मुक्तता उनकी वैचारिक शैली में भी उतर आयी। निम्न उदाहरण उनकी अनेकरूपा विचारात्मक शैली का स्वरूप दर्शन है। `मनुष्य ने ब्रह्म को व्यापक समझा, परन्तु इस व्यापकता और सार्वशक्तिमत्ता की कल्पना के कारण उसका मन, सत्ता अपने को उस शक्ति के नीचे समझता रहा, धीरे-धीरे उसने ब्रह्म को `ईश्वर` नाम दिया। ईश्वर अर्थात् समर्थ, ऐश्वर्यबोध के कारण मनुष्य ने उसे अपने से अलग समझा, अपने से बड़ा समझा, अपना उद्धारकर्ता समझा। इस मनोवृत्ति को धार्मिक मनोवृत्ति कहते हैं। परन्तु साथ ही मनुष्य यह सदा समझता रहा -

कि ब्रह्म एक है, वह व्यापक है, वह हमसे अलग नहीं ।[११४]

"विराट ब्रह्माण्ड -निकाम दुरत्व और परिणाम, उनके कोटि-कोटि नक्षत्रों का अग्निमय आवर्त नृत्य, बहुत विस्मयकारी बाते हैं, सन्देह नहीं परन्तु मनुष्य की बुद्धि और भी विस्मयजनक है । उन समस्त ब्रह्माण्डों से अधिक प्रचण्ड शक्तिशाली अधिक आश्चर्यजनक । अत्यन्त नगण्य स्थान में रहकर, नगण्यात् नगण्यतर काल में वासकर वह इस विपुल ब्रह्माण्ड को जानने की इच्छा रखता है और सफल होता जा रहा है ।[११५]"शायद ही संसार में कोई ऐसी भाषा हो जिसकी उन्नति में पद पद पर इतनी बाधा पहुंचायी गयी हो, फिर जो इस प्रकार अपार शक्ति संचय कर सकी हो । आज वह सैकड़ों प्लेटफार्मों से कोडियो, विद्यालयों से और दर्जनों प्रेसों से नित्य ~~मुखरिरित~~ मुखारित होनेवाली परम शक्तिशाली भाषा है । उसकी जड़ जनता के हृदय में है । वह करोड़ों नर-नारियों की ~~अश~~ आशा और आकांक्षा, क्षुधा और पिपासा, धर्म और विज्ञान की भाषा है ।"[११६]

उपसंहार :

एक महान् गद्य शिल्पी के रूप में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी का सदैव स्मरण रहेगा । हिन्दी गद्य के युग निर्माताओं में वे प्रथम पंक्ति के अधिकारी हैं । उनके लेखन की ~~अद्वि~~ अद्वितीय भंगिमा अत्यन्त रोचक, भावप्रबण, चिन्ताविह्वल तथा सत्यान्वेषी गद्य शैली का द्योतन करती है । उनके गद्य लेखन में आधुनिकता के आयाम विकसित होते हैं । इतना ही नहीं गद्य लेखक के रूप में आचार्य द्विवेदी जी की प्रतिभा अनेक प्रणालियों में मुखरित हुई । निबंध,संस्मरण, उपन्यास, आलोचना, इतिहास आदि विभिन्न धाराओं के माध्यम से इन्होंने विपुल मात्रा में साहित्य की सृष्टि की । उनके निबंध व्यक्तित्वप्रधान, व्यक्तिव्यंजक, ललित गद्य के आदर्श रूप हैं, जबकि उपन्यासों में प्राचीन इतिहास, संस्कृति और आधुनिक युग बोध की त्रिवेणी का संगम लक्षित होता है । इनके आलोचनात्मक साहित्य में भी इनकी रचनाधर्मिता और निजी शैली का सौन्दर्य मिलता है । विविध रूपों में उपलब्ध इनकी गद्य कृतियों के सम्बंध में समग्र रूप में विचार करने पर यह बात हमारे

सामने स्पष्ट हो जाती है कि वे एक उच्चकोटि के शैलीकार हैं। गद्य शैली का मूल्यांकन प्राय: निबंध लेखन के परिप्रेक्ष्य में किया जाता है किन्तु आचार्य द्विवेदी जी की गद्य शैली उनकी सभी प्रकार की कृतियों में समान भाव से प्रतिष्ठित है। उनका पाण्डित्य उनकी शैली में पूरी तरह से तरंगायित है। रवीन्द्रनाथ की कविताएं आचार्य द्विवेदी की चेतना में पूरी तरह रसी बसी थीं। आचार्य द्विवेदी एक अत्यन्त सफल अध्यापक और कुशल वक्ता थे। भाषण कला में वे पूरी तरह पारंगत थे। अपनी अजस्त्र वाग्धारा से श्रोता समूह को मन्त्रमुग्ध कर देते थे। आचार्य जी सच्चे अर्थों में वाणी के सफल प्रयोक्ता थे। भाषा के पंडित और भाषा की शक्ति के पूर्ण ज्ञाता थे। हिन्दी गद्य के इतिहास में उन्हें भाषा का अपूर्व शिल्पी और शैली का सिद्ध कह कर सदैव स्मरण किया जाता है। इतना ही नहीं मगर हिन्दी के सम-सामयिक रचनाकारों और चिन्तकों में आचार्य हजारी-प्रसाद द्विवेदी का अप्रतिम स्थान है। आचार्य द्विवेदी की रचनाएं साहित्य के क्षेत्र में एक विशेष दृष्टि लेकर चलीं और वह थी उनकी मानवतावादी दृष्टि। इस भावना को आचार्य द्विवेदी जी ने अपने उपन्यासों, अपने निबंधों और कविता में इतनी सहजता से आने दिया कि रचनाएं मोहक और सहज प्रभाव डालनेवाली बन सकीं। रचनाकार का पथ सरल नहीं होता वह जो कुछ लिखना चाहता है उसे शब्दार्थ के माध्यम से उतार पाना कितना कठिन होता है इसे वे ही जानते हैं जो रचना के पथ से गुजरते थे आचार्य द्विवेदी जी का रचनात्मक साहित्य कितना व्यापक आयाम समेट सका है उसके पीछे उनकी लम्बी साधना और लम्बी सम्भावना समाहित है। आचार्य द्विवेदी जी का रचनाकार सहज वैचारिकता और सहज अनुभूति का रचनाकार है। उनका निबंधकार का रूप अगर देखें तो अद्यतनयुग के निबंधकारों में आचार्य हजारीप्रसाद जी अग्रगण्य है। उनके निबंधों में सर्वत्र भारतीयता की छाप स्पष्ट झलकती है और निबंध कला की दृष्टि से भारतीय एवं पाश्चात्य प्रणाली का सफल समन्वय दृष्टिगोचर होता है। नवीन जीवन बोध तथा नयी सामाजिक समस्याओं का विश्लेषण तो प्राचीन इतिहास और आदर्श के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया जाना पंडित जी के प्रत्येक निबंध में पाया जाता है। इसी कारण उनके निबंध 'विषय, विचार, व्याख्या, विविधता आदि की दृष्टि से भी हिन्दी निबंध साहित्य के इतिहास में अपना पृथक स्थान रखते हैं। इतना ही नहीं साधारण.

से साधारण विषयों को चुनकर उसमें असाधारण प्रतिभा को सरस और रोचक शैली में प्रदर्शित करने में द्विवेदी क जी अद्वितीय हैं। संक्षेप में उनके निबंधों में अविच्छिन्न साहित्य साधना, गंभीर अध्ययन, प्राचीनता से नूतनता का सुन्दर सामंजस्य मिलता है। आचार्य द्विवेदी जी हिंदी के शीर्षस्थ निबंधकार हैं और उनके निबंध हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है।

[redacted] , [redacted]

--

<u>सन्दर्भ ग्रन्थ :</u>

१-	अशोक के फूल	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी-		पृ० १
२-	-वही-	,,	,,	पृ० १३
३-	-वही-	,,	,,	पृ० ३०
४-	वही-	,,	,,	पृ० ५३
५-	-वही-	,,	,,	पृ० ७४
६-	भारतीय संस्कृति की देन-अशोक के फूल-डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी-पृ०७८-८०			
७-	-वही-	,,	,,	पृ०७८-८०
८-	विचार और ~~वर्क~~ वितर्क	,,	,,	पृ० १०१
९-	-वही-	,,	,,	पृ० ११२
१०-	आलोकपर्व	,,	,,	पृ० ९
११-	-वही-	,,	,,	पृ० ११
१२-	वही-	,,	,,	पृ० २०-२९
१३-	वही-	,,	,,	पृ० ७३
१४-	वही-	,,	,,	पृ० ९१
१५-	वही-	,,	,,	पृ० २००
१६-	विचार और वितर्क	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी		पृ० १७६
१७-	वही-	,,	,,	पृ० १३५
१८-	कल्पलता	,,	,,	पृ० ५६
१९-	वही	,,	,,	पृ० १
२०-	आलोकपर्व	,,	,,	पृ० ३५
२१-	अशोक के फूल	,,	,,	पृ० १४१
२२-	~~सकलन-अ~~ एक कुत्ता और एक मैना - अशोक के फूल	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी		पृ० १४३
२३-	वही-	,,	,,	पृ० १४५

२४-	विचार प्रवाह	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी,		पृ० ६७
२५-	वही-	,,	,,	पृ० १०३
२६-	वही-	,,	,,	पृ० १४३
२७-	वही-	,,	,,	पृ० १३३
२८-	वही-	,,	,,	पृ० १७५
२९-	विचार और वितर्क	,,	,,	पृ० ५५
३०-	वही-	,,	,,	पृ० ६४
३१-	वही-	,,	,,	पृ० १२०
३२-	वही-	,,	,,	पृ० १५३
३३-	वही-	,,	,,	पृ० १६७
३४-	वही-	,,	,,	पृ० १९६
३५-	वही-	,,	,,	पृ० २३६
३६-	वही-	,,	,,	पृ० २४४
३७-	वही-	,,	,,	पृ० ३९
३८-	कल्पलता	,,	,,	पृ० ६३
३९-	वही-	,,	,,	पृ० १३३
४०-	वही	,,	,,	पृ० ७३
४१-	वही-	,,	,,	पृ० १४३
४२-	वही-	,,	,,	पृ० ११५
४३-	वही-	,,	,,	पृ० १५०
४४-	आलोकपर्व	,,	,,	पृ० १५३
४५-	वही	,,	,,	पृ० १८५
४६-	अशोक के फूल	,,	,,	पृ० २३
४७-	वही-	,,	,,	पृ० ३७
४८-	वही-	,,	,,	पृ० १०१
४९-	अशोक के फूल	,,	,,	पृ० १५४

५०- विचार प्रवाह डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २३६
५१- वही- ,, ,, पृ० २७०
५२- अशोक के फूल ,, ,, पृ० ९ ६४
५३- आलोकपर्व ,, ,, पृ० ६८
५४- वही- ,, ,, पृ० ११५
५५- विचार प्रवाह ,, ,, पृ० ३१
५६- वही- ,, ,, पृ० १९२
५७- कल्पलता ,, ,, पृ० १२७
५८- वही- ,, ,, पृ० ४१
५९- ठाकुर जी की बटोर -कल्पलता- डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी,पृ० ४४
६०- आलोकपर्व ,, ,, पृ० ४४
६१- विचार प्रवाह ,, ,, पृ० ५५
६२- वही- ,, ,, पृ० ४६
६३- विचार और वितर्क ,, ,, पृ० २२
६४- वही- ,, ,, पृ० २९
६५- वही- ,, ,, पृ० १
६६- वही- ,, ,, पृ० ८
६७- अशोक के फूल ,, ,, पृ० १०
६८- कल्पलता ,, ,, पृ० १९
६९- वही- ,, ,, पृ० ८
७०- विचारप्रवाह डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी,पृ० १४
७१- आलोकपर्व ,, ,, पृ० १३८-१४३
७२- कल्पलता ,, ,, पृ० १८४
७३- विचार प्रवाह ,, ,, पृ० २९०
७४- विचार और वितर्क ,, ,, पृ० ३३

७५- कल्पलता डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ६८

७६- आलोकपर्व ,, ,, पृ० १४४

७७- तिलक का गीतादर्शन -आलोकपर्व- ,, ,, पृ० १४६

७८- आलोकपर्व ,, ,, पृ० ३०

७९- व्योमकेश शास्त्री उर्फ हजारीप्रसाद द्विवेदी-डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ३३

८०- वही- ,, ,, पृ० ३३

८१- अशोक के फूल ,, ,, पृ० १२४

८२- रवीन्द्रनाथ के राष्ट्रीय गान-अशोक के फूल-डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १३३

८३- वही- ,, ,, पृ० १३४

८४- ठाकुर जी की बटोर-कल्पलता- डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी-पृ० ५२

८५- विचार और वितर्क ,, ,, पृ० १३६-१३७

८६- कुटज ,, ,, पृ० ८

८७- कल्पलता ,, ,, पृ० १०

८८- अशोक के फूल ,, ,, पृ० १२

८९- कल्पलता ,, ,, पृ० ६

९०- मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है-अशोक के फूल-डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १९१

९१- अशोक के फूल डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १४

९२- कल्पलता ,, ,, पृ० १

९३- शिरीष के फूल -कल्पलता- ,, ,, पृ० १९-२०

९४- आम फिर बौरा गए -वही ,, ,, पृ० १७

९५- अशोक के फूल ,, ,, पृ० ८

९६- केतुदर्शन -कल्पलता- ,, ,, पृ० ८६

९७- वही- ,, ,, पृ० ८६

९८- कल्पलता- ,, ,, पृ० ८७

९९- वही- ,, ,, पृ० ८८-८९

१००- अशोक के फूल ,, ,, पृ० १३

१०१-	वसंत आ गया है -अशोक के फूल-	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी-	पृ० ११
१०२-	वही-	,, ,,	पृ० ११
१०३-	वही-	,, ,,	पृ०१२
१०४-	वही-	,, ,,	पृ० १२
१०५-	वही-	,, ,,	पृ० १२
१०६-	हिन्दी-गद्य की प्रवृत्तियाँ	,, ,,	पृ० ६१
१०७-	कुटज	,, ,,	पृ० ८३-८५
१०८-	शांतिनिकेतन-शिवालक-	शिवप्रसाद सिंह-	पृ० ३४५
१०९	वही-	शिवप्रसाद सिंह	पृ० ३४५
११०-	कल्पलता	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी	पृ० १३३
१११-	अशोक के फूल	,, ,,	पृ० १६६
११२-	विचार प्रवाह	,, ,,	पृ० १०२
११३-	अशोक के फूल	,, ,,	पृ० १०२
११४-	विचार और वितर्क	,, ,,	पृ० २९
११५-	कुटज	,, ,,	पृ० ६७
११६-	अशोक के फूल	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी,	पृ० १८०